आलोचनात्मक अध्ययन

कामायनी : एक परिशीलन

डॉ० महेन्द्र कुमार
एम० ए०, पी-एच० डी०



रीगल बुक डिपो, दिल्ली-6

प्रकाशक
रीगल बुक डिपो,
अमीरचन्द मार्ग, दिल्ली-६

तृतीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण
गणतन्त्र दिवस १-६-८४

मूल्य ८.००

मुद्रक
शुक्ला कम्पोजिंग एजेन्सी द्वारा
वैगार्ड प्रेस, दिल्ली-६

प्रकाशकीय

छायावादी काव्य-चेतना की प्रौढ़तम काव्यकृति कामायनी हिन्दी साहित्य की ही नहीं, विश्व-साहित्य की एक गरिमामयी प्रभविष्णु रचना है, जिसमें बुद्धि-युगीन शुष्क भौतिकता, से पीड़ित एवं संतप्त मानव जाति के जीवन-विकास को अग्रसर करने का महनीय प्रयत्न किया गया है। यही कारण है कि कामायनी का अध्येता जीवन और जगत् की नाना अनुभूतियों से सुपरिचित होता हुआ परम चैतन्य भगवान् शिव की आनन्दानुभूति में तल्लीन हो जाता है। आधुनिक भारतीय काव्य की अपूर्व उपलब्धि कामायनी का विषय जितना सूक्ष्म-गहन है, अभिव्यंजना-शैली अपनी लाक्षणिक और प्रतीकात्मक विभूतियों के प्राचुर्य के कारण उतनी ही गम्भीर है। इतना होने पर भी कामायनी का मूल्यांकन सर्वथा विवाद-विहीन नहीं है। कामायनी के प्रतिपाद्य, जीवन-दर्शन, वस्तु-कल्पना और शैली-शिल्प में अनेक दोप हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। तद्यपि कामायनी हिन्दी के विज्ञ आलोचकों और काव्य-मर्मज्ञों की प्रशंसा का विषय रही है जो इस बात का स्पष्ट संकेत है कि कामायनी विवादों के रहते हुए भी कदाचित् सबसे महान् उपलब्धि है। वस्तुतः रामचरितमानस के बाद यही एक ऐसा महाकाव्य है, जो हिन्दी को विश्व-साहित्य में स्थान दिला सकता है। होमर, मिल्टन बाल्मीकि और कालीदास से तुलना करके भी इसका गुण-दोष देखा जाय—इतनी योग्यता इस कलाकृति में है। भाववृत्ति कर्मवृत्ति तथा ज्ञानवृत्ति के सामंजस्य द्वारा समरसता और उसके फलस्वरूप आनन्द की सिद्धि इस कृति का प्रतिपाद्य अथवा कार्य है जो सर्वथा उदात्त एवं विराट गरिमा और आयाम से सम्पन्न है। अतएव कहा जा सकता है कि कामायनी आधुनिक काव्य का मानदण्ड है।

डॉ० महेन्द्रकुमार द्वारा लिखित 'कामायनी : एक परिशीलन' का संशोधित एवं परिमार्जित द्वितीय संस्करण निश्चय ही विद्यार्थी जगत् में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनायेगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। 'कामायनी : एक परिशीलन' में लेखक ने संक्षेप में विस्तार को कहने की प्रवृत्ति अपनाई है और कामायनी से सम्बद्ध प्रायः सभी प्रमुख समस्याओं का यथासम्भव पूरा-पूरा समाधान किया है।

प्रमुख छात्रोपयोगी प्रकाशन

कबीर ग्रंथावली (विद्यार्थी संस्करण)	डॉ० 'अनन्त'	३०.००
सूरदास और उनका भ्रमरगीत-सार	डॉ० हरिश 'हरि'	२०-००
जायसी ग्रन्थावली (विद्यार्थी संस्करण)	डॉ० मनमोहन गौतम	५०-००
पद्मावत भाष्य (विद्यार्थी संस्करण)	डॉ० मनमोहन गौतम	५०-००
विद्यापती-पदावली (विद्यार्थी संस्करण)	कुमुद, जयवशी झा	२५-००
मीरांबाई-पदावली (विद्यार्थी संस्करण)	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	२५-००
कवितावली	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	१५-००
विहारी सतसई (आरम्भ के २१० दोहे)	विजयकुमार अग्रवाल	१०-००
घनआनन्द कवित्त	डॉ० मनोहरलाल शर्मा	१२-००
सस्कृत साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ	डॉ० गोविन्दराम शर्मा	१५-००
प्रेमचन्द और उनकी रगभूमि	डॉ० शांतिस्वरूप गुप्त	८-००
प्रेमचन्द और उनका गबन	डॉ० राजपाल शर्मा	१५-००
गोदान : एक विवेचन	डॉ० सुरेश सिनहा	८-००
प्रेमचन्द और उनकी निर्मला	प्रो० विध्येश्वरी विद्यार्थी	५-००
वर्मा और उनके टेढ़े-मेढ़े रास्ते	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	१२-००
यशपाल और उनकी दिव्या	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	१०-००
अज्ञेय : नदी के द्वीप	प्रो० विजयकुमार अग्रवाल	१०-००
अज्ञेय : शेखर एक जीवनी (विद्यार्थी सं०)	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	२०-००
चित्रलेखा समीक्षा	प्रो० कृष्णमोहन अग्रवाल	७-००
मृगनयनी : एक विवेचन	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	८-००
प्रसाद और उनका स्कन्दगुप्त	प्रो० पुरुषोत्तमलाल विज	८-००
प्रसाद और उनका चन्द्रगुप्त	प्रो० पुरुषोत्तमलाल विज	८-००
पहला राजा : समीक्षा	डॉ० हरीश 'हरि'	७-००
आधे अधूरे : एक विवेचन	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	८-००
कोणार्क : समीक्षा (जगदीशचन्द्र माथुर)	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	५-००
रीतिकालीन काव्य का अध्ययन	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	२०-००
भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य का अध्ययन	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	२०-००
शुक्ल और उनकी चिन्तामणि	डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी	१२-००
सूर सारावली (पुरस्कृत)	डॉ० मनमोहन गौतम	२५-००
साहित्य लहरी	डॉ० मनमोहन गौतम	२५-००
वीसलदेव रासो	प्रो० भवानी शकर त्रिवेदी	६-००
सेवासदन : एक विवेचन	प्रो० विजयकुमार अग्रवाल	७-००
सारा आकाश : एक विवेचन	डॉ० कृष्णदेव शर्मा	८-००
आषाढ़ का एक दिन : समीक्षा	प्रो० कृष्णमोहन अग्रवाल	७-००
भाषा विज्ञान	डॉ० गणेशदत्त गौड	१२-००

रीगल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली-६

कामायनी : एक परिशीलन

प्रश्न १—प्रसादजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—युग-प्रवर्त्तक, क्रांतद्रष्टा महाकवि जयशंकर प्रसाद का जन्म सन् १८८६ ई० (माघ शुक्ल दशमी संवत् १९४६) में काशी के एक समृद्ध वैश्य परिवार में हुआ था। इनके पिता देवीप्रसाद साहु तम्बाकू के एक नए सुगंधित चूर्ण 'सुँघनी' के प्रसिद्ध व्यापारी थे। प्रसादजी अपने भाई-बहनों में सबसे छोटे थे, इसीलिए माता श्रीमती मुन्नीदेवी का इनके प्रति विशेष स्नेह था।

जीवन-संघर्ष—प्रसादजी की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। श्री मोहिनीलाल गुप्ता इनके प्रारम्भिक गुरु थे जिन्होंने इन्हे काव्य-प्रणयन के लिए प्रोत्साहित किया। दस वर्ष की आयु मे प्रसादजी ने क्वींस कॉलेज में प्रवेश ग्रहण किया और सातवी श्रेणी तक नियमित अध्ययन करते रहे। किन्तु इसके बाद पिता की असामयिक मृत्यु के कारण इन्हे कॉलेज छोड़ना पड़ा। पिताजी की मृत्यु के कुछ वर्षों पश्चात् ही प्रसादजी की माता तथा ज्येष्ठ भ्राता शम्भुरत्नजी भी काल-कवलित हो गए। जीवन के इस उद्वेलन ने कवि को अल्पायु में ही राशि-राशि कर्त्तव्य-कर्मों का भार वहन करने के लिए बाध्य किया। किन्तु प्रसादजी ने जीवन के इस वैषम्य के मध्य वंश-परम्परागत व्यापार को वृद्धि तथा विश्रृंखलित गृहस्थी को स्थिरता प्रदान कर अपनी दृढ़ संकल्प-शक्ति का अद्भुत परिचय दिया। परन्तु फिर भी भाग्य की अनुकूलता इन्हें प्राप्त न हो सकी। पहली पत्नी के देहावसान के बाद प्रसादजी ने दूसरा विवाह किया, किन्तु वह भी प्रसूति-वेला में अपने पुत्र-रत्न के साथ दिव्यलोक की निवासिनी हुई। तीन-चार वर्षों के एकाकी विधुर जीवन के बाद विवाह करके कोमल भावनाओं के कवि ने पुनः अपने प्रणय-नीड़ का निर्माण किया और उनके इस मधुमय नीड़ में सुपुत्र रत्नशंकर का जन्म हुआ। भाग्य-चक्र के इस आघात-प्रतिघात तथा बाह्य जगत् के संघर्षों ने कवि के अन्तर्मन को नव-निर्माण की स्फूर्ति तथा भाव-सम्पदा के संचय और त्याग की प्रवृत्ति प्रदान की।

दिनचर्या—प्रसादजी का शील, शक्ति और सौन्दर्य से अभिमंडित व्यक्तित्व अत्यन्त भव्य एवं आकर्षक था। उनकी दिनचर्या व्यापारिक एवं पारिवारिक कर्त्तव्य-कर्मों तथा साहित्य-सृजन के मध्य सन्तुलित थी। उषाकाल मे नियमित रूप से चिन्तन-मनन और साहित्य-सृजन उनके जीवन का निश्चित क्रम था। प्रातःकालीन भ्रमण में भी वे अपने मित्रो के साथ प्रायः साहित्य-चर्चा ही किया करते थे। इस रूप मे एकान्त साहित्य-साधना उन्हे जितनी अधिक प्रिय थी सभा-समारोहो मे काव्य-निपाठ अथवा सभापति बनकर आत्म-विज्ञापन करना उन्हे उतना ही अधिक अरुचिकर प्रतीत होता था। उनका दैनिक कार्य-क्रम सरस्वती की नियमित आराधना से प्रारम्भ होता था और तदुपरान्त वे दो-तीन घण्टे अपने वंश-परम्परागत व्यवसाय का निरीक्षण-परीक्षण करते थे। इसके बाद नित्यप्रति नियमित व्यायाम और दोपहर बारह बजे भोजन के उपरान्त दो घण्टे विश्राम उनकी दिनचर्या का क्रम था। इसके बाद सायंकाल सात बजे से रात लगभग नौ बजे तक वे अपनी दुकान पर बैठते। इस समय के बीच भी प्रायः उनकी दुकान पर साहित्य-गोष्ठियाँ स्वतः आयोजित हो जाती और विविध विषयो पर विचार-विमर्श चलता रहता था। इस प्रकार 'भाव', 'क्रिया' और 'ज्ञान' के सामजस्य के उद्घोषक प्रसादजी की वैयक्तिक दिनचर्या उषाकाल से लेकर रात्रि शयन-वेला तक पैतृक व्यवसाय के संचालन और काव्य-प्रणयन के मध्य केन्द्रित थी।

अभिरुचि—कोमल भावनाओ के कवि होने के कारण संगीत के प्रति उनका सहज आकर्षण था। 'कामायनी' मे विशिष्ट सांगीतिक शब्दावली का प्रचुर प्रयोग उनके संगीत विषयक गम्भीर ज्ञान का परिचायक है।[1] मूर्तिकला और चित्रकला के प्रति भी उनकी तीव्र अभिरुचि थी। सारनाथ के सग्रहालय मे सुरक्षित प्राचीन बौद्ध-मूर्तियों के स्वरूप का उन्होने व्यापक अध्ययन-विश्लेषण किया था। ऐतिहासिक प्रस्तर-चिन्हों को देखकर उनकी कल्पना सजीव हो उठती थी। प्रकृति के उन्मुक्त वैभव के प्रति उनके मन में नैसर्गिक अनुराग था। विधुर जीवन के संतप्त दिनों मे भुवनेश्वर, महोदधि तथा पुरी तक की यात्रा

१—"ताल-ताल पर चलो, नही लय छूटे जिसमे,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।"

—कामायनी, संघर्ष, पृ० २०५

करते हुए प्रकृति-सुन्दरी के द्वारा ही उन्हें नवजीवन की मंगलमयी प्रेरणा प्राप्त हुई थी। प्रकृति के प्रति अपनी सहज अनुरक्ति के कारण ही वे अपने घर में स्वयं बागवानी किया करते थे।

यद्यपि पिता की आकस्मिक मृत्यु के कारण उन्हें अपनी नियमित शिक्षा अपूर्ण ही छोड़ देनी पड़ी, किन्तु ज्ञान की तीव्र पिपासा के कारण वे आजीवन जिज्ञासु बने रहे। किसी शिक्षण संस्था में विधिवत अध्ययन से वंचित रहकर भी उन्होने अपनी ज्ञान-पिपासा की सन्तुष्टि के लिए संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी भाषाओं तथा संस्कृत के महाकाव्यो, उपनिषदों एवं पुराणों का गम्भीर अध्ययन किया। प्रसादजी का पारिवारिक वातावरण शैव भक्ति से आप्लावित था; इसीलिए उनमें भी वंशपरम्परागत संस्कारों के कारण प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रति विशेष अभिरुचि थी। इस शैव-दर्शन के विशिष्ट सिद्धान्तों का उन्होने गम्भीर चिन्तन-मनन किया था। 'कामायनी' में इसी प्रत्यभिज्ञादर्शन की मधुमयी अभिव्यक्ति हुई है। बौद्ध-दर्शन के प्रति भी प्रसादजी के मन में आकर्षण की भावना थी। 'लहर' में संकलित 'अशोक की चिन्ता' प्रभृति कविताओं में बौद्ध-दर्शन की करुणा सहज अभिलक्षित होती है। दर्शन के साथ-साथ पुरातत्व और इतिहास के अध्ययन-अनुशीलन में भी प्रसादजी की अत्यधिक अभिरुचि थी। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटकों में उन्होने अतीत के आयाम पर युग-युग के मानव-पुरुषार्थ एवं शाश्वत सौन्दर्य-चेतना को अभिव्यक्त किया है। इन नाटकों की भूमिकाएँ प्रसादजी की सूक्ष्म अनुसन्धान-प्रतिभा की परिचायक है। इन भूमिकाओं से स्पष्ट अभिज्ञापित होता है कि प्रसादजी ने केवल ऐतिहासिक नाटकों की ही रचना नही की, अपितु भारत के प्राचीन गौरवमय इतिहास के अनुपलब्ध तथ्यों का अनुसन्धान और आख्यान-प्रत्याख्यान भी किया है।

देहावसान—सन्तुलित निरामिष आहार, नियमित व्यायाम एवं दिनचर्या के कारण प्रसादजी का स्वास्थ्य अनुपम था। किन्तु काल की अज्ञात शक्ति ने उन्हें दीर्घायु न होने दिया। जीवन के अन्तिम दिनों में यक्ष्मा रोग से पीड़ित होने के कारण उनका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन क्षीण होता चला गया। चिकित्सकों ने सम्यक् निरीक्षण के बाद उन्हें किसी पर्वतीय स्थल पर स्वास्थ्य-सुधार के लिए जाने का परामर्श दिया। किन्तु अपने धार्मिक संस्कारों के कारण वे विश्वनाथ की पुरी छोड़कर और कहीं जाने के लिए तैयार नहीं हुए और

पूर्ववत् साहित्य-सृजन में लीन रहे। इन्ही दिनों वे 'इरावती' उपन्यास लिख रहे थे तथा एक और उपन्यास की रूपरेखा भी उनके मस्तिष्क में स्पष्ट थी। 'कामायनी' के सदृश एक अन्य महाकाव्य लिखने की भी उनकी उत्कट आकांक्षा थी। इस प्रकार जीवन के अन्तिम क्षण तक मृत्यु से संघर्ष करते हुए वे साहित्य-साधना मे लीन रहे और १५ नवम्बर, १९३७ (सम्वत् १९९४ की कार्तिक शुक्ल एकादशी) की साध्य वेला मे उन्होने इस नश्वर देह का परित्याग कर शाश्वत शिवलोक की ओर प्रयाण किया।

काव्य-चेतना

युग-प्रवर्तक, क्रांत-द्रष्टा महाकवि की प्रतिभा नैसर्गिक होती है, व्युत्पत्ति, शास्त्रज्ञान और अभ्यास उस प्रतिभा को विभूषित करते हैं। छायावाद के आधार-स्तम्भ महाकवि प्रसाद की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिमा भी नैसर्गिक थी, जिसका सौन्दर्य जीवन के साम्य-वैषम्य के मध्य निरन्तर निखरता चला गया। प्रसादजी के पिता एक सफल व्यापारी ही नही, गुण-ग्राहक भी थे। कवियो, सगीतज्ञों एव पंडितो का वे यथोचित धन-द्रव्य द्वारा समुचित सम्मान किया करते थे। इसीलिए कलाकार प्राय. उनके पास आया करते थे। पिता की इस गुण-ग्राहकता तथा कलाकारो के सामीप्य का प्रभाव प्रसादजी के शिशु-मानस पर भी पड़ा और उनकी नैसर्गिक काव्य-प्रतिमा अनायास उद्बुद्ध हो उठी। नौ वर्ष की अल्पायु मे ही उन्होंने 'कलाधर' उपनाम से भगवान् शंकर की स्तुति मे एक सवैया रचकर अपने गुरु 'रससिद्धजी' को सुनाया था,[1] जिसे सुनकर उन्होने भाव-विभोर गद्‌गद कंठ से उन्हें महाकवि होने पर आशीर्वाद दिया।

प्रसादजी ने जिस युग में अपनी साहित्य-साधना प्रारम्भ की, वह युग नव उन्मेष का युग था। भाषा, शैली एवं विषय-विस्तार की दृष्टि से काव्य-चेतना एक नए रूप मे प्रस्फुटित हो रही थी। द्विवेदीजी ने खड़ी-बोली को परिष्कृत एवं परिमार्जित करके उसे गद्य के साथ-साथ पद्य के क्षेत्र मे भी प्रतिष्ठित

१—"हारे सुरेस, रमेस, धनेस, गनेसहुँ सेष न पावत पारे,
पारे है कोटिक पातकी पुंज, 'कलाधर' ताहि छिनो बिच तारे।
तारेन की गिनती सम नाहि, सुजेते तरे प्रभु पापी बिचारे,
चारे चले न बिरंचहु के जो, दयालु ह्वै शंकर नेकु निहारे॥"

करने का अथक प्रयास किया था। अपने स्नेह-संवलित प्रोत्साहन के द्वारा उन्होंने कवियों को रीति और शृंगार की वासना-पंकिल परिधि से निकलकर युगानुकूल नए-नए विषयों पर काव्य-प्रणयन के लिए प्रेरित किया। उन्हीं की प्रेरणा से कवियों ने दोहा, कवित्त-सवैया की मुक्तक शैली के साथ-साथ प्रबन्ध-शैली के अनेक विशिष्ट प्रयोग किए। किन्तु नवजागरण के इस युग में भी अभी तक सौन्दर्य एवं शृंगार की रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ प्रबल थीं। व्रजभाषा के लालित्य एवं भारतेन्दु-युग की समस्यापूर्त्तियों की चमत्कारपूर्ण परम्परा के प्रति भी कवियों के मन में आकर्षण एवं अनुराग की भावना थी। काशी के कवि-सम्मेलनों में कवि अभी भी व्रजभाषा मे ही अपनी समस्यापूर्त्तियाँ सुनाया करते थे। प्रसादजी के मित्र-मण्डल के प्रायः सभी कवियों को व्रजभाषा में काव्य-प्रणयन खड़ीबोली की अपेक्षा अधिक प्रिय था। प्रसादजी ने स्वयं भी भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन काव्य का विशद् अध्ययन किया था और व्रजभाषा के अनेक कवित्त-सवैये तो उन्हें कंठस्थ थे। इस प्रकार के वातावरण में वे भी अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक काल में व्रजभाषा एवं रीतिकालीन प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख हुए। उनकी व्रजभाषा की कविताएँ 'चित्राधार' में संगृहीत हैं। यह संकलन अनेक शीर्षकों मे विभक्त है। 'मकरंद बिन्दु' के अन्तर्गत संकलित उनकी 'वेगि प्रान प्यारे नेक कंठ सों लगाओ तो' आदि समस्या-पूर्त्तियों में व्रजभाषा का माधुर्य एवं भाव-तारल्य सहज अभिलक्षित किया जा सकता है। 'चित्राधार' मे विनय एव दैन्य के पद भी संकलित हैं। इन पदों में भक्त-हृदय की भाव-विह्वलता एवं करुणार्द्रता की अभिव्यक्ति हुई है। इसी संकलन में समस्यापूर्त्तियो एवं स्फुट कवित्त-सवैयों के अतिरिक्त प्रसादजी की तीन आख्यानक कविताएँ—'अयोध्या का उद्धार', 'वनमिलन' तथा 'प्रेमराज्य' भी संगृहीत हैं। 'अयोध्या का उद्धार' रघुवंश के सोलहवे सर्ग तथा 'वनमिलन' अभिज्ञानशाकुन्तल से उपकृत आख्यानक कविताएँ हैं। 'प्रेमराज्य' शीर्षक आख्यानक भी ऐतिहासिक घटना पर आधृत है। इन कविताओं को प्रसादजी के व्रजभाषा काव्य एवं खड़ीबोली काव्य के मध्य सन्धिरेखा के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि इनकी भाषा व्रजभाषा होते हुए भी खड़ीबोली के निकट है और उसमें तत्सम शब्दों का बाहुल्य है।

'कानन-कुसुम' प्रसादजी की खड़ीबोली कविताओं का प्रथम संग्रह है। इसके प्रथम संस्करण मे खड़ीबोली के साथ-साथ व्रजभाषा की भी कुछ कविताएँ

संकलित है, किन्तु दूसरे एवं तीसरे संस्करण में क्रमशः खड़ीबोली की कविताएँ अधिक है और वर्तमान संस्करण मे तो केवल खड़ीबोली की ही कविताएँ हैं। यह आशा-निराशा, दैन्य-विषाद, हर्ष-उल्लास आदि विविध भाव-सुमनों का एक ऐसा कानन है जिसकी रमणीयता उपवन के यत्न-साध्य सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक नैसर्गिक है। विषय-विस्तार तथा भाव-वैविध्य की दृष्टि से 'आँसू', 'लहर', 'कामायनी' आदि रचनाओं का पूर्वाभास इस संकलन में सहज अभिलक्षित किया जा सकता है। इसमें ऐतिहासिक-पौराणिक लघु आख्यान भी है तथा वैयक्तिक रागात्मक अनुभूतियों का प्रकाशन भी। कुछ कविताएँ शान्त एवं भक्ति-रस से भी आप्लावित है। समसामयिक सुधारवादी सामाजिक आन्दोलनों का प्रभाव भी कुछ कविताओं पर दिखाई देता है। प्रकृति के प्रति कवि का आकर्षण एवं अनुराग भी इन कविताओं में अभिव्यंजित हुआ है। प्रकृति के विविध उपकरणों का मानवीकरण (Personification) करके कवि ने उनके माध्यम से रहस्यवादी भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। प्रकृति का उपदेशात्मक एवं प्रतीकात्मक रूप भी इन कविताओं में देखा जा सकता है। कवि की खड़ीबोली की कविताओं का प्रथम संकलन होने के कारण स्वभावतः इसकी भाषा बाद की छायावादी कृतियों की भाँति सूक्ष्म, मसृण, नही है, किन्तु सहज स्वाभाविकता उसका प्रमुख गुण है। भाषा तत्सम-प्रधान है। कही-कही पर ब्रजभाषा एवं उर्दू के शब्दो का प्रयोग हुआ है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, काव्यलिंग आदि अलंकारो के प्रयोग द्वारा भाषा में चमत्कार की सृष्टि की गई है। छन्द-विधान भी वैविध्य-सम्पन्न है। संस्कृत के द्रुतविलम्बित आदि वर्णवृत्तों तथा हिन्दी के छप्पय, अरिल्ल, सोरठा आदि छंदों का इसमें प्रयोग हुआ है। कुछ कविताएँ भिन्न तुकात भी है।

'करुणालय' भिन्न-तुकांत मात्रिक छंदों में प्रणीत 'गीत-नाट्य' है, जिसे समसामयिक काव्य-शैलियों के अन्तर्गत एक नूतन प्रयोग कहा जा सकता है। इस विवेच्य दृश्य काव्य मे कवि ने हिंसक यज्ञों की विकरालता एवं नरबलि के बीभत्स रूप का यज्ञ-प्रधान पौराणिक युग के आयाम पर चित्रण करते हुए मानव की करुणा, दया, ममता आदि मधुर, कोमल वृत्तियों को उभारने का प्रयत्न किया है। अयोध्या के महाराज हरिश्चन्द्र अपने पूर्वकृत निश्चय के अनुसार पुत्र-बलि देकर यज्ञ करना चाहते हैं। उनके पुत्र रोहित के मन में जीवन की तीव्र आकाक्षा है। इसीलिए वह घर छोड़कर चला जाता है।

घूमते हुए वह अकाल-ग्रस्त अजीगर्त ऋषि के आश्रम में पहुंचता है। ऋषि अजीगर्त अपना एक पुत्र शुन:शेफ (जो वास्तव में उनका पुत्र नही है) स्वेच्छानुसार प्रयोग के लिए रोहित को दे देते हैं और प्रतिदान के रूप मे उससे अपने आश्रम की अकाल से रक्षा करने के लिए सौ गौएँ ले लेते है। रोहित शुन.शेफ के साथ वापिस लौटता है। वसिष्ठ के समझाने पर कि पुत्र का श्राद्ध इत्यादि कर्मो के लिए जीवित रहना आवश्यक है, महाराज यज्ञ में अपने पुत्र रोहित के स्थान पर शुन.शेफ की वलि देने के लिए तत्पर हो जाते है। वसिष्ठ के पुत्र शक्ति को शुन.शेफ की वलि देने के लिए नियुक्त किया जाता है, किन्तु वह इस हिंसक कार्य के लिए उद्यत नहीं होता। इसी समय ऋषि विश्वामित्र सहसा वहाँ उपस्थित होकर वसिष्ठ के इस हिंसक यज्ञ की निन्दा करते है और शुन:शेफ के स्थान पर अपने पुत्र मधुच्छंद की बलि देने को तत्पर हो जाते हैं। इसी समय सुव्रता नाम की दासी (जिसके साथ ऋषि विश्वामित्र ने गंधर्व विवाह करके उसे गर्भिणी दशा में छोड़ दिया था और स्वयं तपस्या के लिए चले गए थे और जिसने ऋषि अजीगर्त के आश्रम मे शुन:शेफ को जन्म देकर आजीविका के लिए दासी कर्म स्वीकार कर लिया था)—आ जाती है और ऋषि विश्वामित्र की तीव्र भर्त्सना करते हुए उन्हें सूचित करती है कि शुन:शेफ वस्तुत: उनका ही पुत्र है जिसे ऋषि अजीगर्त अपना पुत्र कहकर कुछ गौओं के लोभ में वलि चढ़ाना चाहते है। ऋषि विश्वामित्र को अपने कृत्य के लिए पश्चात्ताप होता है। उनके कहने पर सुव्रता को दासी-कर्म से मुक्त कर दिया जाता है। शुन.शेफ भी मुक्त कर दिया जाता है और इस प्रकार नरबलि से युक्त हिंसक यज्ञ के स्थान पर अहिंसक यज्ञ की प्रतिष्ठा होती है। यह कथानक पॉच संक्षिप्त दृश्यों में विभक्त है। रंग-संकेत भी दिए गए है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र की दृष्टि से इसमें अन्तर्वाह्य द्वन्द्व की व्यापक नियोजना हुई है। नाटकीय कर्म-व्यापार (Dramatic action) की दृष्टि से भी यह रचना सफल है। औत्सुक्य इस विवेच्य कृति का प्रमुख गुण है। इसकी भाषा कानन-कुसुम की कविताओं की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ एवं गम्भीर है। शैली भी करुण एवं रुद्ध-क्रुद्ध भावो के अनुकूल है।

'महाराणा का महत्त्व' भी 'करुणालय' की भाँति भिन्न-तुकात शैली में रचित एक गीति-रूपक (opera) है। एक संक्षिप्त ऐतिहासिक घटना-प्रसंग पर आधृत इसका वस्तु-विधान चार खण्डो में विभक्त है। खानखाना रहीम खाँ

महाराणा प्रताप को पराजित कर उन्हें अकबर के आधीन करने के लिए मेवाड़ जाते है। एक बार उनकी बेगम अपने यवन रक्षकों के साथ वनमार्ग से यात्रा करते समय राजपूती सेना के द्वारा घिर जाती है। राजपूत सैनिक यवन सैनिको को पराजित करके वेगम को अपने साथ ले जाते हैं। जब मेवाड़ केसरी महाराणा प्रताप को इस घटना की सूचना मिलती है, तब उन्हे अपने सैनिकों के इस कृत्य के कृति अत्यधिक क्षोभ होता है और वेगम सम्मानपूर्वक अपने पति के पास पहुँचा दी जाती है। इससे वेगम, खानखाना तथा अकवर के अन्त:स्थल पर महाराणा के औदार्य एवं सौजन्य का अमिट प्रभाव अंकित हो जाता है। इसी घटना-प्रसंग को प्रसादजी ने नाटकीय रूप प्रदान करने का प्रयास किया है। अलंकारों, मुहावरों एवं सूक्तियों से अभिमंडित भावानुकूल भाषा सहज, सरल एवं ओजमयी है, किन्तु यवन पात्रो द्वारा भी तत्सम प्रधान भापा का प्रयोग कुछ स्वाभाविक प्रतीत नही होता। छायावादी शैली की चित्रात्मकता एवं ध्वन्यात्मकता अवश्य इस विवेच्य कृति मे परिलक्षित होती है। वातावरण निर्माण एवं पृष्ठभूमि के रूप मे प्रसंगानुसार प्रकृति के मधुर-शात अथवा प्रवल-तीव्र चित्र अंकित किए गए है।

'प्रेम-पथिक' प्रणय-भावनाओ के ऊर्ध्व विकास की सक्षिप्त कथा है। इसमें पथिक और पुतली के पारस्परिक आकर्षण, मोह एवं त्याग के माध्यम से वासना-रहित आदर्श प्रेम की अभिव्यंजना हुई है। पथिक 'आनन्द नगर' का नागरिक है। अपने पिता की मृत्यु के बाद वह उनके एक मित्र के पास रहता है और वहाँ रहते हुए उनकी पुत्री पुतली के प्रति आकृष्ट होता है। किन्तु पुतली की सगाई किसी और से हो जाती है। पथिक घर छोड़ देता है और अपने खंडित प्रणय की पीड़ा लिए भटकता रहता है। पुतली विवाह के कुछ ही समय बाद विधवा हो जाती है। समाज के कामी लम्पट व्यक्तियों से अपने रूप-यौवन एवं शील-मर्यादा की रक्षा करने के लिए वह एकांत स्थान पर एक कुंज मे तपस्विनी का जीवन व्यतीत करने लगती है। एक दिन उसकी कुटिया मे श्रांत-क्लांत पथिक आता है। दोनों एक-दूसरे को पहचान लेते हैं। पुतली के मन मे पथिक की प्रणय-भावनाएँ पुनः उदबुद्ध हो उठती हैं। पथिक किन्तु उसे लौकिक मोह का परित्याग कर आत्मा के लोक का पथिक बनने का उपदेश देता है। इसी लघु-कथा के अन्तर्गत प्रसादजी ने प्रेम के निश्छल, नि.स्वार्थ, निर्मल रूप की झाँकी प्रस्तुत की है—

"प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो।
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्तिमात्र में बना रहे ॥
क्योंकि यही प्रभु स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त-भवन में टिक रहना ॥
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।
अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं।
यह जो केवल रूपजन्य है मोह न उसका स्पर्धी है ॥
यही व्यक्तिगत होता है, पर प्रेम उदार, अनन्त अहो।
उसमें इसमें शैल और सरिता का-सा कुछ अन्तर है ॥"[1]

प्रेम शारीरिक मिलन नहीं है। वह तो आत्मा का उल्लास है। प्रेम के इसी ईश्वरीय रूप की अभिव्यक्ति लहर की रहस्यवादी कविताओं तथा कामायनी के अन्तर्गत मनु, श्रद्धा और इड़ा के माध्यम से हुई है। 'प्रेम-पथिक' को इस रूप में प्रसादजी की छायावादी काव्य-चेतना के क्रमिक विकास का मधुर, कोमल उषाकाल कहा जा सकता है। इस विवेच्य काव्य की शैली भी छायावादी अप्रस्तुत-विधान से अभिमंडित है। एक स्थल पर अति प्राकृतिक तत्त्व (Supernatural Element) भी दृष्टिगत होता है—चन्द्रबिम्ब से एक देव-दूत सदृश भव्य व्यक्ति निकल कर संतप्त पथिक को प्रेम के आदर्श स्वरूप का परिज्ञान कराता है। समग्रतः इस कृति का रूप-विन्यास स्मरणात्मक एवं वर्णनात्मक है। संवादों की योजना भी हुई है, किन्तु उनमें 'करुणालय' की सी नाटकीय स्फूर्ति नहीं है।

'झरना', 'आँसू' और 'लहर'—ये तीनों कृतियाँ छायावादी सौन्दर्य से अभिमंडित हैं। इनमें 'प्रेम-पथिक' की भाँति किसी कथा-प्रसंग के माध्यम से प्रेम का आख्यान नहीं, कवि की निजी रागात्मक अनुभूतियों का प्रकाशन है। 'झरना' में प्रणय-भावनाओं का एकांत कलकल नाद है, 'आँसू' में विरह की पीड़ा और 'लहर' में अतीत की मधुमयी स्मृतियों के कोमल आघात से उत्पन्न भाव-वीचियों का गम्भीर उद्वेलन। 'लहर' में प्रणय-गीतों के अतिरिक्त तीन ऐतिहासिक आख्यान गीत—'अशोक की चिंता', 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' तथा 'प्रलय की छाया'—भी संकलित हैं। इनके अतिरिक्त 'अरी वरुणा की शान्त

१—प्रेम-पथिक, पृ० २२

कछार' गीत महात्मा बुद्ध के प्रति श्रद्धांजलि के रूप में है। इन छायावादी कृतियों की प्रणय-भावना पर आलोचकों ने भारतीय अद्वैतवाद, शैवदर्शन के 'सामरस्य' तथा सूफी प्रेम-भावना का मिश्रित प्रभाव स्वीकार किया है। अनुभूति एव अभिव्यक्ति की दृष्टि से इन प्रगीतों मे वैयक्तिकता, अनुभूति-प्राबल्य, भावमयता, आवेग-दीप्ति, सागीतिक लय आदि गीत के सभी तत्त्व सहज सन्निहित है।

'कामायनी' प्रसादजी की काव्य-साधना का स्वर्णिम फल है। छायावादी युग की अनुपम उपलब्धि है। मनु, श्रद्धा तथा इड़ा के माध्यम से मानव-मन के क्रमिक-विकास का मनोवैज्ञानिक इतिहास है। आधुनिक युग की इस लब्ध-प्रतिष्ठ कृति में प्रसादजी ने मनु, श्रद्धा तथा इड़ा के यत्र-तत्र उपनिषदो एवं पुराणों में बिखरे हुए कथा-प्रसंगों का संचय कर उनके आधार पर एक सुसम्बद्ध कथानक की नियोजना की है। यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास मे रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। मनु, श्रद्धा तथा इड़ा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करते है। मनु मननशील, संकल्प-विकल्प युक्त, प्रबुद्ध 'अहं' से आवेष्टित 'मन' का प्रतीक है, श्रद्धा हृदय तथा इड़ा बुद्धि का प्रतीक है। इसी प्रकार इसमें वर्णित अन्य सभी पात्र, ऐतिहासिक, पौराणिक घटनाएँ और स्थान भी अपना सांकेतिक अर्थ रखते हैं। प्रसादजी का अद्भुत प्रबन्ध-कौशल इस विवेच्य कृति में सहज लक्षित किया जा सकता है। भाषा गम्भीर, प्रांजल, ओज एवं लावण्यमयी है।

उपर्युक्त प्रबंध एव प्रकीर्ण रचनाओं के अतिरिक्त प्रसाद के नाटकों में भी लगभग सौ गीत एवं कविताएँ सगृहीत है। ये प्रगीत भाव-वैविध्य की दृष्टि से तीन प्रकार के हैं (क) प्रणयगीत (ख) राष्ट्रीय गीत (ग) प्रार्थनापरक गीत। 'स्कंदगुप्त' मे देवसेना के प्रणय गीत—'भरा नैनों में मन मे रूप', 'घने प्रेम-तरु तले', 'शून्य गगन मे खोजता जैसे चन्द्र निराश', 'आह! वेदना मिली विदाई' तथा चन्द्रगुप्त नाटक मे सुवासिनी एवं राक्षस के गीत—'तुम कनक करण के अन्तराल मे लुक-छिप कर चलते हो क्यो?' 'निकल मत बाहर दुर्बल आह', भाव-दीप्ति से उज्ज्वल है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक का 'हिमालय के आँगन मे उसे प्रथम किरणों का दे उपहार' तथा 'चन्द्रगुप्त' नाटक के 'अरुण यह मधुमिय देश हमारा', 'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' आदि राष्ट्रीय गीत उत्साह एवं ओज से उद्वेलित हैं। 'स्कंदगुप्त' नाटक के 'उतारोगे अब कब भू भार',

"पालना बनें प्रलय की लहरें' शीर्षक प्रार्थनापरक गीत राष्ट्र की दुर्दशा से उत्पन्न सहृदय-संवेद्य करुणा से आप्लावित है। ये स्तुतिपरक गीत वैयक्तिक मोक्ष-लाभ की कामना से नहीं अपितु राष्ट्र-उद्धार की कामना से गाए गए हैं। यही इन गीतों की महत्ता है। नाटकों में इन गीतों के समावेश के कारण अनेक स्थलों पर कथा-प्रवाह रुकता हुआ-सा प्रतीत होता है, किन्तु इससे इन गीतों की उपादेयता संदिग्ध नही होने पाती, क्योंकि विविध पात्रों की अन्तर्वृत्तियों के उद्-घाटन, वातावरण के निर्माण तथा घटना-प्रसंगों को अनुकूल भाव-भूमि प्रदान करने के लिए इन गीतो की साभिप्राय योजना हुई है। इन गीतों की भाषा तत्सम-प्रधान है। लक्षणा, व्यंजना एवं प्रतीकात्मकता का भी इन गीतो मे प्राधान्य है। कतिपय आलोचक प्रसादजी के तत्सम-प्रधान शब्दावली वाले इन गीतो को रंगमंच के उपयुक्त नही मानते।[1] किन्तु इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि जिस प्रकार प्रसादजी के नाटक सुरुचि-सम्पन्न पाठकों के लिए हैं, इसी प्रकार इन नाटकों के गीत भी परिष्कृत रुचि वाले प्रबुद्ध पाठकों एवं प्रेक्षकों के लिए हैं। 'तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?' (चन्द्रगुप्त), 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' (चन्द्रगुप्त), 'अस्ताचल पर युवती संध्या की खुली अलक घुँघराली है' (ध्रुवस्वामिनी) आदि गीतों का मधुर-कोमल नाद-सौन्दर्य प्रेक्षक के चित्त को सहज ही द्रुति एवं स्फीति प्रदान करता है।

नाटक, उपन्यास, कहानी एवं निबन्ध—प्रसादजी को बहुमुखी नैसर्गिक प्रतिभा का वरदान प्राप्त था। इसीलिए उन्होंने काव्य के साथ-साथ नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि गद्य की जिस-जिस विधा को अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में ग्रहण किया उसे अपनी कल्पना के नूतन रंगों के द्वारा इन्द्र-धनुषी आभा से अभिमंडित कर दिया। प्रसादजी के नाटको की सख्या लगभग चौदह है। 'सज्जन', कल्याणी-परिणय' और 'प्रायश्चित' प्रसादजी के प्रारम्भिक नाटक हैं। 'सज्जन' का प्रकाशन 'इन्दु' में १६१०-११ में हुआ था। 'कल्याणी-परिणय' १६१२ में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में तथा 'प्रायश्चित' 'इन्दु' में १६१४ में प्रकाशित हुआ। 'कामना' रूपकात्मक नाटक (Allegorical Drama)

१—महाकवि प्रसाद—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, पृष्ठ ८३

है। इसमें मानव मन की विभिन्न चित्तवृत्तियों का नाटकीय विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसीलिए इस नाटक के सभी पात्रो के नाम—संतोष, विनोद, विलास, विवेक, शाति, दम्भ, कामना आदि—तथा उनके क्रिया-कलाप मानव-मन की विविध मनोवृत्तियों के आधार पर हैं। 'एक घूँट' भी रूपकात्मक शैली (Allegorical Style) का सक्षिप्त नाटक है। इसमें स्त्री एवं पुरुष के माध्यम से जीवन में हृदय-पक्ष एवं बुद्धि-पक्ष के सामंजस्य को प्रकट किया गया है। आनन्द, प्रेमलता, वनलता, कुंज, मुकुल आदि इसके पात्र हैं। 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक हैं। इन सभी नाटकों का उद्देश्य भारत के गौरवमय स्वर्णिम अतीत का उद्घाटन करना है। अतीत के विस्तृत आयाम पर वर्तमान जीवन की उलझी हुई सवेदनाओ की अभिव्यक्ति इन नाटको का प्रमुख लक्ष्य है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रसादजी ने केवल ऐतिहासिक नाटको की ही रचना नही की, अपितु अपने नाटको की खोजपूर्ण भूमिकाओं मे उन्होंने भारतीय इतिहास से सम्बद्ध अनेक अनुपलब्ध तथ्यो का सधान और उनका पुनर्रारुथान भी किया है। भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-शिल्प का समन्वय प्रसादजी के नाटको की विशेपता है। उनके नारी पात्र पुरुष पात्रो की अपेक्षा अधिक भास्वर है। पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व एवं चरम सघर्ष (Climax) के चित्रण में प्रसादजी पूर्ण मफल रहे हैं। बौद्ध-दर्शन की करुणा एव शैव-दर्शन की समरसता से उनके नाटक अनुप्राणित है। नाटको के मध्य प्रसंगानुसार गीतो की भी योजना हुई है। इन नाटकों की भाषा प्रसगा-नुसार ओज एवं माधुर्य ने अभिसिक्त है। छायावादी गद्य का लावण्य इन नाटको की भाषा मे लक्षित किया जा सकता है। किन्तु सभी पात्रों द्वारा तत्सम-प्रधान भाषा का प्रयोग कुछ खटकता है। यदि परिष्कृत रुचि के दर्शक तथा कुशल अभिनेता हों तो इन नाटको को सफलतापूर्वक रंगमंच पर भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

'कंकाल', 'तितली और 'इरावती' (अपूर्ण) प्रसाजी के उपन्यास तथा 'छाया', 'प्रतिध्वनि','आकाशदीप','आँधी', 'इन्द्रजाल' कहानी संग्रह है। 'कंकाल' एव 'तितली' में प्रसादजी ने वर्तमान समाज की सड़ी-गली रूढियो, बिगलित परम्पराओं एव विविध समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। 'इरावती' प्रसादजी का अपूग उपन्यास है जिसमें उन्होने पतनोन्मुख बौद्ध संस्कृति की पृष्ठ-भूमि मे धर्म के नाम पर शील के पतन, काम-सुखो की उत्तेजना और विलासिता

का चित्रण किया है। प्रसादजी की कहानियों का उद्देश्य भी पाठक को नए जीवन-मूल्यों के संधान के लिए, उच्च आदर्शों की स्थापना के लिए प्रेरित करना है। 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' प्रसादजी के निबंधों का संग्रह है। इन निबन्धों में कला के स्वरूप, रस, रंगमंच का विश्लेषण तथा रहस्यवाद, यथार्थवाद और छायावाद की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रसादजी के नाटकों की भूमिकाएँ भी उनकी मननशील एव गम्भीर अनुसंधान वृत्ति की परिचायक है।

उपर्युक्त रचनाओ के आधार पर प्रसादजी की काव्य-चेतना का मूल्यांकन करते हुए कहा जा सकता है कि वे अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न, युगनिर्माता, क्रात-द्रष्टा कलाकार थे। संचय और सृष्टि, अध्ययन और अभिव्यक्ति, अनुसंधान और आख्यान उनकी काव्य-कला का प्रमुख गुण है। काव्य और दर्शन का अनुपम मिश्रण उनकी रचनाओ में प्राप्त होता है। लोक-मंगल की साधनावस्था के ओज एवं सिद्धावस्था के माधुर्य से अभिसिंचित उनका काव्य हिन्दी-साहित्य की शाश्वत निधि है।

प्रश्न २—कामायनी की रूपकात्मक कथावस्तु का सर्गानुसार संक्षिप्त आलोचनात्मक सारांश प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—'कामायनी' मनु, श्रद्धा और इड़ा के माध्यम से मानव-मन के विकास की—मन की बद्धावस्था से लेकर मुक्तावस्था तक की—रूपकात्मक कथा है। यह कथा महाकाव्योचित विस्तार के साथ पन्द्रह सर्गों में सुनियोजित है। सर्गो के नाम प्रतिपाद्य के अनुकूल चिंता, आशा, श्रद्धा, निर्वेद आदि हृदय की विविध मनोवृत्तियो के आधार पर रखे गए हैं।

चिंता—मानव-हृदय स्वभावत: मननशील होता है। उसमे क्षण-प्रतिक्षण नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प उद्बुद्ध होते रहते है। मानव-मन के विकास के इस रूपक का प्रारम्भ प्रसादजी ने 'चिंता' के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से किया है[1] और तदनुकूल इस प्रथम सर्ग का नाम भी 'चिंता' ही रखा है :

१— "ओ चिंता की पहली रेखा,
अरी विश्व-वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कंप-सी मतवाली :

कथा का प्रारम्भ महाप्रलय के चित्रण और उससे बचे हुए मानव-जाति के आदि प्रवर्तक वैवस्वत मनु के चिंतन एवं आत्म-विश्लेषण से हुआ है। सारे विश्व को आत्मसात कर लेने वाली महाप्रलय की विक्षुब्ध लहरों पर संतरण करती हुई मनु की नौका किसी महामत्स्य के प्रबल चपेटे से हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर जा टकराई और स्थिर हो गई। मनु उस हिमप्रदेश के उत्तुंग शिखर पर बैठे हुए चिंता-मग्न भीगे नयनो से प्रलय-प्रवाह को निहार रहे है। अवयव की दृढ मास-पेशियों, स्फीत शिराओ तथा ऊर्जस्वित अपार वीर्य से अभिमंडित उनका शरीर इस समय आत-क्लात है। अपने अतीत जीवन के हास-विलास और उसके त्रासद अन्त पर विचार करते हुए वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देव-संतति का नाश उसके अपने वैभव-विलास की अतिशयता के कारण हुआ। अपार वैभव, अमरता के अधिकार, निरन्तर प्रणय-विलास के कारण देवताओं का अहं इतना अधिक प्रदीप्त हो उठा था कि उस 'अहं' के 'मेघ' में सभी कुछ हविष्य बन गया। चिंतन के इन गहन क्षणो मे मनु को 'देव-सृष्टि की सुख-विभावरी, ताराओ की कलना' प्रतीत होती है और उन्हें अपना जीवन देवताओं के भीषण, जर्जर, दम्भ,'सर्ग के प्रथम अंक के अधम पात्रमय विष्कंभ'-सा प्रतीत होता है।

आशा—धीरे-धीरे महाप्रलय की फन फैलाये व्यालों-सी गरजती सिंधु लहरियों का तांडवमय नृत्य शात हुआ, काल-रात्रि व्यतीत हुई और उषा अपनी सुनहली आभा के साथ जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई। त्रस्त प्रकृति का विवर्ण मुख पुनः हँसता हुआ प्रतीत हुआ। प्रकृति के इस परिवर्तन को लक्षित कर मनु को सम्पूर्ण सृष्टि की उस परिवर्तनशीलता का परिज्ञान हुआ, जिसे अपनी अमरता के दम्भ मे देवता भूल गए थे। अन्तरिक्ष में ग्रहो, नक्षत्रों, एवं विद्युतकणो की निरन्तर गतिशीलता को देखकर मनु के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ये किसका संधान करने के लिए व्याकुल है। ऐसी कौन-सी विराट् शक्ति है जो

हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा;
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ,
जल-माया की चल रेखा।"

—चिंता, पृ० १५

इनका संचालन करती है। प्रकृति के इस अनन्त, उन्मुक्त वैभव-विस्तार को देखकर प्रलय-प्रवाह से बचे हुए मनु के चिता-ग्रस्त मन मे एक नई आशा का संचार होता है और उन्हे अब अपना जीवन वरदान सदृश प्रतीत होने लगता है। उनके मन में पुन: जिजीविषा उत्पन्न होती है। नए जीवन का सकल्प लेकर वे देव-संस्कृति के यज्ञादि कर्मो में लीन हो जाते है। प्रतिदिन यज्ञ के उपरान्त वे अवशिष्ट अन्न को कहीं दूर रख आते है जिससे कि प्रलय से बचा हुआ उनकी भाँति कोई अपरिचित प्राणी उसे प्राप्त कर तृप्त हो सके। अब उनकी प्रसुप्त आकाक्षाएँ पुन: प्रवुद्ध होने लगी थी। अपने एकाकीपन की नीरसता मे वे किसी और की वाछा करने लगे थे, जिसके सामीप्य में वे अपने अन्तर्मन के रहस्यो को अभिव्यक्त कर सकें।

['चिता' मन की दैन्य-निराशा, संकल्प-विकल्प की स्थिति है। जीवन में नई 'आशा' का संचार होने पर मन चिताजन्य दैन्य-निराशा से विनिर्मुक्त होकर स्वर्णिम विकास की ओर अग्रसर होता है। एलेक्जेण्डर शैल्ड के अनुसार "आशा सदैव चिता को नष्ट करने मे प्रवृत्त होती है और चिता आशा को नष्ट करने मे, किन्तु जव तक ये दोनो भाव रहते है, तब तक कोई भी इसमें सफल नही होता।"[१] प्रकृति की निरन्तर परिवर्तनशीलता और रमणीयता से मनुष्य नई आशा एवं विश्वास का संदेश ग्रहण करता है। मानव-मन की इस मनोवज्ञानिक प्रक्रिया को यहाँ मनु—जो कि मन के प्रतीक है—के वैयक्तिक जीवन के माध्यम से व्यक्त किया गया है और प्रसादजी ने मानव-मन के क्रमिक विकास के इस मनोवैज्ञानिक इतिहास में 'चिता' सर्ग के वाद क्रमश: 'आशा' और उसके वाद 'श्रद्धा' सर्ग की साभिप्राय नियोजना की है।]

श्रद्धा एक दिन मनु अपने एकांत चिंतन में लीन थे कि सहसा वातावरण की नीरवता को भंग करती हुई एक जिज्ञासापूर्ण प्रश्नसूचक मधुमयी वाणी उन्हें सुनाई दी। उन्होंने कौतूहलवश मस्तक उठाकर देखा तो उन्हें अपने सामने 'नील परिधान बीच सुकुमार', 'हृदय की अनुकृति वाह्य उदार,' 'कुसुम-वैभव में लता समान' एक अद्वितीय सुन्दरी दिखाई दी। मनु ने पहेली के समान उलझे हुए अपने जीवन का परिचय देकर उस अनुपम सुन्दरी की जिज्ञासा को शांत

१—Hope tends always to destroy Anxiety, and Anxiety to destroy Hope, but neither is able to succeed, so long as each remains itself."

—The Foundations of Character, p. 505

किया और उसका परिचय पूछा। उस रमणी (श्रद्धा) ने भी अपना परिचय दिया कि वह ललित कलाओं का ज्ञान प्राप्त करने, सृष्टि के नए-नए रहस्यों को जानने, हिमगिरि की शैल-मालाओं के शृंगार को निकट से देखने के लिए इस प्रदेश में आई थी और यज्ञ के अन्त को देखकर यहाँ चली आई। उस अनुपम सुन्दरी (श्रद्धा) के सम्पर्क से मनु के मन में नई रागमयी चेतना का, नव-जीवन के सृजन का उत्साह स्फुटित हुआ। श्रद्धा ने सृष्टि की परिवर्तनशीलता का आख्यान करते हुए[1] मनु को अतीत को विस्मृत कर अपने में लमय कर्मों के द्वारा विश्व के हृदय पटल पर चेतना का नया सुन्दर इतिहास दिव्य अक्षरों मे लिखने के लिए प्रेरित किया।

[मन मे आशा के साथ-साथ श्रद्धा विश्वासमयी रागात्मक भावनाओं का संचरण होने पर ही मनुष्य की ऊर्ध्व चेतना विकसित होती है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य को इस सर्ग मे मनु और श्रद्धा के सम्पर्क के माध्यम से व्यंजित किया गया है। भास्कराचार्य के अनुसार सत्य को धारण करने की भावना ही श्रद्धा है।[2] पाश्चात्य मनोविज्ञान मे सामान्यत: 'श्रद्धा' के अर्थ में 'फेथ' (Faith) शब्द का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त रेलायन्स (Reliance), कान्फिडेंस (Confidence), बिलीफ (Belief), ट्रस्ट (Trust), आदि शब्द भी श्रद्धा के समानार्थक हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चिंता के अन्त के बाद मन मे आशा का संचार होता है और आशा ही श्रद्धा अथवा विश्वास को जन्म देती है।

१— "दु:ख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात।
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमें सुख गात॥
जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल।
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाना भूल॥
—श्रद्धा, पृ० ६३

२—निरुक्त—दैवतकाण्ड, ३/९

एलेक्जेण्डर शैण्ड ने विविध मनोभावों के उत्थान-पतन पर विचार करते हुए कहा है कि "यदि आशा चिन्ता को नष्ट करने में सफल हो जाती है तो वह स्वयं भी नष्ट हो जाती है और विश्वास (श्रद्धा) नामक एक नया मनोभाव इन दोनों का स्थान ले लेता है।[1] कामायनी मे सर्गों की योजना इसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के आधार पर हुई है और इसीलिए क्रमानुसार आशा के बाद 'श्रद्धा' सर्ग का विधान है।]

काम—'काम' मानव की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। श्रद्धा के सम्पर्क में आने पर मनु के मन में भी काम का उन्मेष होता है। सृष्टि के कण-कण का उल्लास उनके काम को उद्बुद्ध करता है। उन्हे प्रतीत होता है कि यौवन वसन्त की भाँति कितना मादक एवं आकर्षक है, जिनके आते ही जीवन उल्लास एवं स्वच्छन्दता से परिपूर्ण हो उठता है। श्रद्धा मनु के साथ अपने साक्षात्कार के समय नील-परिधान धारण किए हुए थी। इसीलिए 'काम' की अनुभूति होने पर मनु को तारों से जगमगाता रात्रि का नीला आवरण एवं चन्द्रमा का आलोक अत्यन्त मधुर एवं रहस्यमय प्रतीत होता है और श्रद्धा को प्राप्त करने की आकांक्षा उनके मन में बलवती हो उठती है। रात्रि की नीरवता में अपने मन में उठने वाली स्निग्ध, मादक अनुभूतियों पर विचार करते-करते मनु को प्रतीत होता है कि अब वे अपने जीवन के मधुर भार को और नही उठा सकते। उन्हें अपना संयम स्खलित प्रतीत होता है। सोचते-सोचते वे शिथिल होकर सो जाते हैं और स्वप्न मे उन्हें 'काम' की वाणी सुनाई देती है। काम अपना परिचय देते हुए कहता है "मैं और रति दोनों सृष्टि के प्रारम्भ से ही देव-सृष्टि में 'तृष्णा' और 'तृप्ति' के रूप मे रहते थे। मैं देवताओं के मन में तृष्णा प्रदीप्त करता था और रति उन्हें तृप्ति दिखाती थी और इस प्रकार हम दोनों आनन्द एवं उल्लास का सृजन करते थे। मैं 'काम' ही उन देवताओं के विनोद-विलास का सहचर था। रति मेरी सहचरी थी। सृष्टि के कण-कण में हमारा विलास था। तृष्णा एवं तृप्ति से प्रेरित देव-सृष्टि का वह उन्मुक्त विलास अब जल-प्लावन मे नष्ट हो चुका है। देव-सृष्टि के नाश के बाद मैं भी अनंग होकर भटक रहा हूँ और अब संसृति की प्रगति बन कर मानव की

१—"If Hope succeeds in destroying Anxiety, it destroys itself, and the new emotion of confidence takes the place of both." —The. Foundations of Character, p. 505.

शीतल छाया में निज कृति का ऋण-शोध करना चाहता हूँ। सुन्दर और गोलीमाली श्रद्धा हम दोनो की सन्तान है। उसे ग्रहण कर तुम्हारा चिन्ता-व्याकुलता से ग्रस्त जीवन शीतल-शान्त हो जाएगा और तुम अपनी त्रुटियों का परिमार्जन कर सकोगे। यदि तुम्हारे मन मे उसे प्राप्त करने की इच्छा है तो तुम्हे उसके योग्य बनना पड़ेगा। यह कहकर वह ध्वनि मुरली के स्वर की भाँति सहसा शान्त हो गई। मनु काम के इस सन्देश को सुनकर जाग पड़े और उन्होंने पूछा, हे देव! उस ज्योतिर्मयी तक कैसे पहुँचा जा सकता है और कैसे कोई व्यक्ति उसे प्राप्त कर सकता है?" परन्तु वहाँ उत्तर देने वाला कोई नहीं था। मनु का स्वप्न टूट चुका था। पूर्व दिशा में उषा की लालिमा झलक रही थी।

[Sex, Desire, Libido आदि अंग्रेजी शब्द प्राय: 'काम' के समानार्थी माने जाते हैं। किन्तु 'काम' भारतीय दर्शन एवं मनोविज्ञान का एक व्यापक शब्द है जो केवल Sex अथवा स्थूल प्रेम (Love) का पर्याय नहीं है। (क) 'काम' का अर्थ है 'जीवनेच्छा' अथवा 'सिसृक्षा'—सृष्टि-निर्माण की इच्छा। इसी 'काम' की प्रेरणा से जल-प्लावन से नष्ट हुई सृष्टि का नव-निर्माण हुआ और मनु एवं श्रद्धा नई मानव-संस्कृति के आदि प्रवर्त्तक बने। वस्तुत: 'काम' एक मूलतत्व है जिससे प्रत्येक कल्प मे नई सृष्टि का उदय होता है। अणु-परमाणु परस्पर आकृष्ट होकर नया जीवन धारण करते हैं। (ख) भारतीय जीवन-दर्शन मे पुरुषार्थ-चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—के अन्तर्गत 'काम' की भी गणना की गई है। इस अर्थ मे 'काम' सात्विक, राजसिक एवं तामसिक तीन गुणो से युक्त माना गया है। सात्विक काम-भावना का स्वरूप उदात्त एवं भव्य होता है। काम का राजसिक रूप 'मोह का बंधन' माना गया है और तामसिक रूप निंदनीय समझा गया है। (ग) भारतीय संस्कृति में 'काम' देवतावाचक भी है। 'अथर्ववेद' में कामदेव को इन्द्र के समान पराक्रमशाली एव महान माना गया है।[1] वह 'तृष्णा' का देवता है। 'अनादिवासना' रति उसकी सहचरी है। देवता के रूप मे 'काम' का वर्णन कामायनी मे भी हुआ है। वह और उसकी सहचरी रति दोनों मिलकर देवताओ की विलास लीलाओ को उद्दीप्त एव शांत करते है—

१—अथर्ववेद. ६/२/१८

मैं तृष्णा था विकसित करता,
वह तृप्ति दिखाती थी उनको,
आनन्द समन्वय होता था
हम ले चलते पथ पर उनको।।[1]

'कामायनी' में काम का चित्रण एक पिता के रूप में भी है। वह मनु को अपनी पुत्री श्रद्धा के मधुर, कोमल व्यक्तित्व से परिचित कराता है और मनु जब ईर्ष्यावश श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं, तब उन्हें शाप भी देता है, जिसका फल आज भी मनु की मानव-संतति भोग रही है।

देवताओं के सभी क्रिया-कलाप केवल काम' की प्रेरणा से संचालित थे, उनके जीवन में उन्मुक्त विलास का आधिपत्य था, इसीलिए उनकी सृष्टि नष्ट हो गई। किन्तु मनु उसी 'काम' का सन्देश ग्रहण कर उसकी पुत्री श्रद्धा की सहायता से 'समरसता' की स्थिति तक पहुँचते है, इसका अर्थ यही है कि 'काम' एक ऐसा मानव-पुरुषार्थ है जो जीवन को विकास की ओर संप्रेरित करता है, किन्तु उसकी अतिशयता विनाश का कारण भी बन जाती है।]

वासना—काम के उद्‌बुद्ध होने पर 'मनु' का हृदय वासना-संकुल हो उठता है। एक दिन सांध्य-वेला में यज्ञ के उपरान्त जब वे ध्यान में लीन थे तब उसी समय श्रद्धा अपने एक पालित पशु के साथ स्नेह-संवलित क्रीड़ा करती हुई उनके समीप आई और उनकी चिंता एवं उदासी का कारण पूछा। मनु ने उससे कहा कि "तुम्हारा हृदय कितना अधिक कोमल एवं करुण है जिससे कि सभी तुम्हारी ओर आकृष्ट हो जाते है। किन्तु मेरे लिए तुम्हारा रूप-सौन्दर्य, तुम्हारी करुणा, ममता, दया रहस्यमय है। इसीलिए मैं जानना चाहता हूँ कि तुम कौन हो?" श्रद्धा ने मनु की जिज्ञासा को शांत करते हुए कहा कि "मैं तो अतिथि हूँ। इससे अधिक परिचय देना व्यर्थ है। किन्तु तुम आज से पहले तो कभी भी मेरा परिचय जानने के लिए इतने अधिक उद्विग्न नही थे। देखो चारों ओर चाँदनी छिटकी हुई है, हम चलकर प्रकृति के सुरम्य वातावरण में शीतलता अनुभव करें।" श्रद्धा की बात मानकर मनु उसके साथ बाहर घूमने के लिए निकलते हैं विहँसती हुई सृष्टि, अलसाई हुई रात्रि की मधुमयी छाया मे मनु को श्रद्धा का अनिंद्य सौन्दर्य और भी अधिक आकर्षक प्रतीत होता है। राग-

---

१—कामायनी—काम, पृ० ८४

रंजित चन्द्रिका, माधवी की मदिर भीनी गंध, शीतल, मंद पवन—प्रकृति के ये सभी उपकरण मनु की वासना को उद्दीप्त करते हैं। इस प्रकार के मादक वातावरण में 'मनु' श्रद्धा के सामने अपने अतृप्त, अधीर हृदय के उन्माद को प्रणय के रूप मे अभिव्यक्त कर देते हैं। मनु के प्रणय-प्रस्ताव को सुनकर श्रद्धा का शरीर रोमांचित हो उठता है। कपोलों पर लालिमा झलकने लगती है। गद्गद कंठ से वह कहती है—"हे देव! क्या आज का यह समर्पण नारी-हृदय के लिए सदैव चिर-बंधन बन जायेगा? आह! मैं अत्यन्त दुर्बल हूँ। क्या मैं इस दान को ले सकूँगी, जिसे उपभोग करने मे प्राण विकल हो जाते है?"

[भारतीय जीवन-दर्शन के अनुसार 'वासना' का स्वरूप आदि, अनन्त है। सृष्टि के सभी प्राणी इससे अभिभूत रहते हैं। (क) तृष्णा, मोह, भोगेच्छा को सामान्यतः 'वासना' माना जाता है। पूर्व संचित संस्कारो को भी प्रायः 'वासना' कहा गया है। अंग्रेजी में यद्यपि 'वासना' का कोई भी उपयुक्त समानार्थक शब्द उपलब्ध नही होता, फिर भी कभी-कभी Tendencies and Disposition (डिस्पोजिशन) शब्दो का क्रमशः संस्कारों एव वासनाओं के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। 'वासना' शब्द मूलतः 'वस' धातु से बना है। 'वस' धातु का अर्थ है 'निवास करना', 'रहना'। 'कामायनी' में 'वासना' का प्रयोग इसी 'वासयति' क्रिया के अर्थ में हुआ है। मनु के मन में जब 'काम' का संचार होता है, तब श्रद्धा के अनुपम लावण्य को देखकर नष्ट देव-संस्कृति की विलास-भावना 'वासना' बनकर उनके प्राणों को व्याकुल कर देती है। 'वासना' ही मनु को श्रद्धा के समीप ले जाती है।

(ख) पूर्णप्रज्ञदर्शन मे महामाया, नियति, मोहिनी और प्रकृति की भाँति 'वासना' को भी भगवदिच्छा का एक रूप माना गया है। यह 'वासना' जगत् को उत्पन्न करने वाली शक्ति है। रामानुजाचार्य ने वासना, रुचि एवं श्रद्धा को आत्मा का धर्म माना है—"वासना रुचिश्च श्रद्धा चात्मधर्मा गुणसंसर्गजाः"[1]]

लज्जा—मनु के प्रणय-निवेदन को सुनकर श्रद्धा नारी-सुलभ लज्जा से अभिभूत हो उठती है। उसके द्वन्द्वहीन सरल हृदय मे आत्म-समर्पण की एक नई अनजानी आकांक्षा उदबुद्ध होती है। किसी प्रतिदान की आशा किए विना वह निःस्वार्थ भाव से अपना सर्वस्व दान करना चाहती है।

१—श्रीन्यायसिद्धाजन, पृ० ३४३

[इस सर्ग में कथा का प्रवाह शिथिल है। केवल अनुभूति-गम्य लज्जा का, जोकि नस-नस मे 'मूर्च्छना' समान गुंजरित हो उठती है, कपोलो पर लाली चमक कर छा जाती है, का श्रद्धा के आत्म-चिंतन के माध्यम से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है।[1] इसी सर्ग में नारी के श्रद्धा-विश्वासमात्र स्वरूप का स्तवन करते हुए[2] कवि ने मन की सात्विक एवं तामसिक वृत्तियों के संघर्ष के रूपक की ओर भी संकेत किया है।[3]]

कर्म—श्रद्धा-विश्वास का उद्रेक होने पर मानव-हृदय मे नई स्फूर्ति, नई ऊर्जा का संचार होता है। मन को कर्म करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। किन्तु कभी-कभी मन श्रद्धा-विश्वासमय होते हुए भी पाशविक वृत्तियों से प्रलुब्ध होकर तामसिक कार्यो की ओर प्रवृत्त हो जाता है। श्रद्धा के सम्पर्क में आने

१—"मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ,
मतवाली सुन्दरता पग में
नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ।
लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन-सी लगती,
कुंचित अलकों-सी घुँघराली
मन की मरोर बन कर जगती"

—लज्जा, पृ० ११३

२—"नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास-रजत-नग-पगतल मे—
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।"

—लज्जा, पृ० ११६

३ "देवों की विजय, दानवो की
हारो का होता युद्ध रहा
संघर्ष सदा उर-अंतर में
जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।"

—लज्जा, पृ० ११६

पर मनु को कर्म करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। किन्तु देव-संस्कृति के संस्कारों एवं वासनाओं से अभिभूत होकर वे असुर पुरोहित आकुलि-किलात जोकि जल-प्लावन के बाद भटक रहे थे और श्रद्धा के हृष्ट-पुष्ट पशु के मांस-भक्षण के लिए लालायित थे, की प्रेरणा से हिंसक यज्ञ करते है और उसमें श्रद्धा के सुन्दर, निस्नेह पशु की बलि दे देते है। श्रद्धा के कोमल-स्निग्ध हृदय को मनु के इस कृत्य से क्षोभ होता है। वह रूठकर अपने एकात कक्ष में चली जाती है। वासना-दीप्त मनु सोमपात्र लिए श्रद्धा के पास आते हैं। श्रद्धा उनकी भर्त्सना करते हुए उन्हें इस हिंसा-विलास के स्थान पर सेवा-त्यागमय रचना-मूलक सृष्टि यज्ञ करने के लिए उत्प्रेरित करती है।[1] प्रणय-केलि के लिए आतुर मनु उस समय श्रद्धा को सन्तुष्ट करने के लिए उसके प्रत्येक आदेश-निदेश का पालन करने के लिए प्रतिश्रुत होते हैं। कामातुर मनु के वाक्-जाल में उलझकर सरल हृदया श्रद्धा अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है।

[मनुष्य द्वारा सम्पादित क्रिया-व्यापारों को 'कर्म' कहा जाता है। 'ईशा-वास्योपनिषद्' मे मनुष्य को शास्त्र-विहित 'कर्म' करते हुए सौ वर्ष तक जीने की कामना करने का उपदेश दिया गया है—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समा."। वेदों मे प्रायः 'यज्ञ' के अर्थ मे 'कर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थो में भी 'यज्ञो वै कर्म', "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" कहकर 'कर्म' का अर्थ यज्ञ माना गया है। किन्तु उपनिषदों में 'कर्म' का व्यापक स्वरूप ग्रहण किया गया है। 'कर्म' की सर्वाधिक विस्तृत व्याख्या 'गीता' मे मिलती है। श्रीकृष्ण सात्विक, राजसिक एवं तामसिक कर्मों की व्याख्या करते हुए अर्जुन

१—"औरो को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ।
रचना-मूलक सृष्टि-यज्ञ यह
यज्ञ-पुरुष का जो है
संसृति-सेवा भाग हमारा
उसे विकसने को है।"

—कर्म, पृ० १४२-१४३

को फल की आकांक्षा किए बिना कर्म करने का उपदेश देते हैं।" फल की कामना किए बिना कर्त्तापन के अभिमान से रहित अनासक्त भाव से किए गए कर्म सात्विक, फल की कामना से किए गए कर्म राजसिक तथा मोहवश किए गए कर्म तामसिक होते है।[1] श्रद्धा के सम्पर्क मे आने पर मनु को 'कर्म' करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। किन्तु यज्ञ-प्रधान देव-संस्कृति की वासनाओ के उद्दीप्त होने पर उनकी कर्म-भावना 'यज्ञ' के रूप मे प्रकट होती है और यज्ञ असुर-पुरोहितों की प्रेरणा से हिंसक रूप ग्रहण कर लेता है। श्रद्धा मनु के इस 'कर्म' की निंदा करते हुए उन्हे सेवा, त्याग, सत्य, मानवता एवं अहिंसा से प्रेरित 'कर्म' करने का उपदेश देती है। श्रद्धा का यह उपदेश आज की गाधीवादी चेतना का ही एक रूप है।]

ईर्ष्या—सागर की भांति मन मे भी क्षण-प्रतिक्षण विविध भाव-वीचियाँ उमड़ती रहती है। कभी मन स्नेह और प्रेम से उद्वेलित रहता है तो कभी ईर्ष्या-द्वेष से आन्दोलित हो उठता है। मनु ने श्रद्धा को अपनी हिंसक-वृत्ति के त्याग का जो वचन दिया था, वह भी क्षणिक ही था। श्रद्धा के मधुमय यौवन-रस का पान कर मनु पुनः निरीह पशुओ के आखेट मे हिंसा-सुख का अनुभव करने लगे, क्योंकि गर्भवती श्रद्धा का पीत मुख उन्हें पूर्ववत् आकृष्ट नही कर पाता था। श्रद्धा अब मातृत्व का भार वहन करती हुई बीजो का संग्रह करती, तकली कातती और भावी शिशु के लिए कोमल वस्त्र बुनती। हिंसा-विलास के प्रति लुब्ध मनु पहनने के लिए मृग-चर्म और भोजन के लिए स्वादु मास के उपलब्ध होते हुए 'बीज संग्रह करना', 'तकली कातना' आदि क्रियाओ को व्यर्थ मानते थे। किन्तु सभी प्राणियों के प्रति राग-अनुरागमयी श्रद्धा अपने स्वार्थ के लिए निरीह पशुओं की हत्या को निंद्य मानती थी।[2] इसीलिए वह

१—गीता, १४-२३-२५

२—"चमड़े उनके आवरण रहें
ऊनों से मेरा चले काम;
वे जीवित हों मांसल बनकर
हम अमृत दुहें, वे दुग्ध-धाम।
वे द्रोह न करने के स्थल हैं
जो पाले जा सकते सहेतु ×

अपने भावी शिशु के लिए स्वयं वस्त्र बुनती, नाना प्रकार के बीज एकत्रित करती। उसने अपने शिशु के लिए एक छोटी-सी कुटिया और उसमें वेतसलता के झूले का निर्माण किया था। इस समय उसकी सभी क्रियाएं अपने भावी शिशु के पालन-पोषण की ओर आकृष्ट थी। वह अहर्निश मातृत्व के मधुमय सपनों मे ही खोई रहती थी। भावी शिशु के प्रति श्रद्धा का यह एकांत स्नेह मनु को अपने प्रति उपेक्षा के रूप मे प्रतिभासित हुआ। वे श्रद्धा के मन पर केवल अपना ही एकाधिकार चाहते थे।[1] अपनी इसी क्षुद्र ईर्ष्या के कारण वे गर्भवती श्रद्धा को एकाकी छोड़कर चले गए और अधीर, श्रांत श्रद्धा की वाणी --"रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही"— शून्य में गूंजती रही।

[प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने स्पर्धात्मक अथवा सामान्य (Competitive or normal), प्रारोपित (Projected) तथा भ्रमात्मक (Delusional Jealousy)— ईर्ष्या के ये तीन रूप स्वीकार किए है। मनु की ईर्ष्या निश्चय ही 'भ्रमात्मक ईर्ष्या' है। भावी शिशु के प्रति श्रद्धा का अनुराग उन्हे अपने प्रति विराग प्रतीत होता है। नारी के दो रूप होते है—जननी और जाया और ये दोनों रूप अन्योन्याश्रित है, एक दूसरे के पूरक है। मनु इस सत्य को भूल जाते हैं। मन स्वभाव से अहंकारमय होता है। मनु का 'अह' भी श्रद्धा पर अपना एकाधिकार चाहता है। यहाँ तक कि अपने ही शिशु के प्रति श्रद्धा के वात्सल्य को वे अपनी उन्मुक्त प्रेम-क्रीड़ा की बाधा समझने लगते है और विरक्त होकर श्रद्धा को छोडकर चले जाते हैं। इसके मूल मे कुछ विद्वानो ने फ्रायड द्वारा वर्णित 'ओडिपस कम्प्लेक्स' को स्वीकार किया है।

मनु मन का प्रतीक हैं और श्रद्धा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विश्वास-

---

×पशु से यदि हम कुछ ऊँचे है
तो भव-जलनिधि मे बने सेतु।"

—ईर्ष्या, पृ० १५६

१ "यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार
केवल मेरी ही चिंता का
तव चित्त वहन कर रहे भार।"

—ईर्ष्या, पृ० १६०

समन्वित रागात्मिका वृत्ति कहा है। इस प्रकार मनु द्वारा श्रद्धा को छोड़कर चले जाने का अर्थ है ईर्ष्या के प्रबल आवेग के परिणामस्वरूप मन का विश्वास से रहित हो जाना। जिस प्रकार मनु श्रद्धा को छोड़कर भटकते रहते है, इसी प्रकार मनुष्य का मन भी ईर्ष्या के संचरित होने पर नाना प्रकार के क्लेशों का अनुभव करता है और श्रद्धा-विश्वास के अभाव मे भटकटता रहता है।]

इड़ा—श्रद्धा को छोड़कर मनु भटकते हुए सारस्वत प्रदेश में पहुंचते है। सरस्वती नदी के एकान्त तट पर बैठे हुए जब वे अपने विगत जीवन और श्रद्धा के प्रति अपने व्यवहार पर विचार करते है, तब उंनके मन मे आत्म-ग्लानि होती है। उन्हे अपना जीवन पुनः अन्धकारमय प्रतीत होता है। आत्म-चिंतन के इन क्षणो में उन्हें पुनः 'काम' की वाणी सुनाई देती है। 'काम' उन्हें सम्बोधित करते हुए कहता है "तुमने सुख-साधन और वासना-तृप्ति को ही जीवन का स्वर्ग मान लिया। अपने पुरुषत्व-मोह में तुम नारी की सत्ता को, समरसता पर आधृत नर और नारी के पारस्परिक सम्बन्धों को भूल गए। इसीलिए तुमने सहज विश्वासमयी श्रद्धा के बाह्य रूप आकर्षण को ही देखा, उसके आन्तरिक सौन्दर्य को नही पहचाना और अपने उद्दाम 'अहं' के आवेग में उसका परित्याग कर यहाँ चले आए।' इस प्रकार मनु की तीव्र भर्त्सना करते हुए काम 'मनु' और मनु के माध्यम से सम्पूर्ण मानव-सृष्टि को निरन्तर अपनी ही समस्याओं में उलझकर, अतृप्त आकांक्षाओं, स्वार्थो की अग्नि में दग्ध होने का अभिशाप देता है। श्रद्धा, जिसने कि निःस्वार्थभाव से अपना सर्वस्वदान किया था, वह मनु के द्वारा प्रवंचित हुई। इसलिए काम श्रद्धा-वंचक मनु और मानव-संस्कृति में 'द्वयता' के प्रसार का, मस्तिष्क और हृदय के मध्य सामंजस्य और सद्भाव के अभाव का शाप देता है।[1] रात्रि के अन्धकार से आवृत सारस्वत प्रदेश के एकांत वातावरण मे काम के इस अभिशाप को सुनकर मनु अत्यन्त विक्षुब्ध हो जाते हैं। रात्रि के व्यतीत होने पर जैसे ही पूर्व दिशा मे उषा की लालिमा प्रकट हुई उन्हे अपने समीप उषा के सदृश मनमोहक अद्भुत रूप-लावण्य से युक्त 'इडा' दिखाई दी। इड़ा मनु को उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश के नव-निर्माण की, विज्ञान के साधनो द्वारा जडता को चैतन्य प्रदान करने की प्रेरणा देती है। श्रांत-क्लांत मनु इडा के संसर्ग मे आकर नव-सृष्टि के निर्माण की ओर अग्रसर होते है।

[कामायनी की कथावस्तु [illegible] का प्रतीक है, [illegible] का प्रतीक है । [illegible] [illegible] जीवन में [illegible] [illegible] [illegible] है । [illegible] जीवन के [illegible] [illegible] [illegible] जीवन में [illegible] है । [illegible] [illegible] [illegible] निर्मित किया । [illegible] प्राप्त हुई, [illegible] पुनः [illegible] जीवन में [illegible] श्रद्धा-विश्वास का आश्रय [illegible] है, [illegible] ही स्थानों में व्याकुल होकर [illegible] जाना है । बुद्धि के द्वारा [illegible] भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति तो सम्भव हो जाती है किन्तु मन [illegible] है । मन की शान्ति तो तभी सम्भव है जब कि बुद्धि-विकास की ओर ध्यान देने के साथ-साथ मनुष्य को श्रद्धा-विश्वास का सम्बल भी प्राप्त हो ।]

स्वप्न—'स्वप्न' सर्ग में कवि ने मनु के चले जाने के बाद श्रद्धा की वियोग-जन्य व्याकुलता तथा मानव शिशु के प्रति उसकी विविध वात्सल्यपूर्ण भावनाओं का चित्रण किया है । मनु के वियोग में श्रद्धा का [illegible]

१—'बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल ।

वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान ।
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा-जीवन-रस सार लिये ।
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये ।
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक-वसन लिपटा अराल—
चरणों में थी गति-भरी ताल ।—'

—इड़ा, पृ० १८०

चन्द्रमा' के सदृश म्लान हो जाता है। उसकी मधुमयी देह-यष्टि, जिसके प्रति मनु आकृष्ट हुए थे, अब एक वर्णहीन रेखाचित्र की भाँति शुष्क प्रतीत होती है। उसके मन में अतीत की नाना स्मृतियाँ उद्‌बुद्ध होती है, जिससे उसका मन कभी हर्ष-उल्लास और कभी भय-आशंका से उद्वेलित हो उठता है। वह सोचती है कि कभी उसके जीवन में मधु-अभिलाषाओं की चहल-पहल थी, किन्तु अब उसके जीवन में पतझड़ है। उसका जीवन-सहचर उसे प्रवंचित कर कहीं दूर चला गया है। जीवन के इन एकांत क्षणों में वह प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित कर धैर्य धारण करती है।

जीवन की इस वियोगमयी, संतप्त संध्या में श्रद्धा के लिए उसका शिशु 'कुमार' ही एकमात्र संबल है। नटखट कुमार की बाल-सुलभ क्रीड़ाओं में उलझ-कर वह क्षणिक आत्म-विश्रांति का अनुभव करती है। उसके मन में सदैव यही आशंका बनी रहती है कि कहीं वह भी अपने पिता की भाँति उससे रूठकर न चला जाये।

प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा करते हुए श्रद्धा को स्वप्न में सारस्वत प्रदेश की झाँकी दिखाई पड़ती है। इड़ा के निदेशानुसार मनु ने सारस्वत प्रदेश का नव-निर्माण किया। समाज की सुव्यवस्था के लिए वर्ग-व्यवस्था के आधार पर श्रम का विभाजन किया। मनु के अथक प्रयत्नों के कारण ही निर्जन, वीरान, उजड़ा हुआ सारस्वत प्रदेश हरे-भरे खेतों, ऊँचे-ऊँचे महलों, उद्यानों, ऋजु-प्रशस्त राजमार्गों से सुशोभित तथा केलि-कुंजो मे विहार करते हुए प्रेमी-युगलों के स्निग्ध-मंदिर प्रेमालापों से गुंजरित हो उठता है। सारस्वत प्रदेश की इस झाँकी के मध्य श्रद्धा को अपने प्रियतम का उन्मत्त, मादक रूप दिखाई पड़ता है। वह देखती है कि इड़ा के अग्नि-ज्वाला सदृश रूप-सौन्दर्य से मनु के मन की वासना प्रदीप्त हो उठती है। वे रूपहली रातों की शीतल छाया में उसके साथ प्रणय-विहार की कामना करने लगे है। इड़ा उनके प्रणय-प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। मनु का 'अहं' इससे और भी प्रदीप्त हो जाता है। वे बलपूर्वक उसे अपने बाहुपाश में आबद्ध करने का प्रयास करते है। उनके इस कृत्य से सृष्टि में हलचल मच जाती है। अन्तरिक्ष में रुद्र-हुंकार सुनाई देती है। प्रकृति संत्रस्त हो उठती है, वसुधा काँपने लगती है। चारों ओर प्रलय का दृश्य उप-स्थित होने लगता है। इड़ा क्रोध एवं लज्जा से अभिभूत होकर मनु के कक्ष से बाहर निकलती है। प्रजा, जो अभी तक मनु के नियमों से शासित थी, विद्रोह

का भाव लिए वहाँ आकर एकत्रित हो जाती है। प्रजा के इस रूप को देखकर मनु संत्रस्त हो जाते हैं और अपने मन मे क्षुब्ध, निराशामयी असफलता का अनुभव करते है। वे भयभीत होकर द्वार वन्द कर देने का आदेश देकर अपने शयन-कक्ष मे चले जाते है।

इस दुःस्वप्न को देखकर श्रद्धा की निद्रा भंग हो जाती है। भयवश उसके मन में नाना प्रकार की आशंकाएँ उठने लगती है और 'अब क्या होगा ?'—यह विचार करते हुए शेष रात व्यतीत हो जाती है।

संघर्ष—श्रद्धा ने जो अमंगलमय स्वप्न देखा था, वह यथार्थ प्रमाणित हुआ। सारस्वत प्रदेश की प्रजा मनु के आचार-व्यवहार के विरुद्ध विद्रोह कर उठी थी। मनु भी चिंतित एवं व्याकुल थे। उनके मन मे नाना प्रकार के विचार उठ रहे थे। वे सोच रहे थे कि मैंने अपने बुद्धि-बल से सारस्वत प्रदेश का नव-निर्माण किया। नियमों की रचना कर प्रजा को एक सूत्र में संगठित किया। किन्तु क्या मेरा जीवन यही है कि मैं सदा स्वर्ण की भाँति गलता रहूँ। मुझे स्वच्छन्द विचरण करने का कुछ भी अधिकार प्राप्त न हो। इड़ा तो मुझे भी नियम-परतंत्र बनाना चाहती है।" विचारो के इस व्यामोह मे मनु को परिज्ञान होता है कि वस्तुतः यह सारा संसार ही परिवर्तनशील है। इसकी गति मे रवि, शशि, तारे ये सभी अपना रूप बदलते रहते हैं। परिवर्तन की गति के अनुसार कभी वसुधा जलनिधि बन जाती है और कभी सागर मरुभूमि के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। विश्व के इस बंधन-विहीन परिवर्तन पर विचार करते हुए मनु का अहंकारी मन अपने को नियम बंधनों में बाँधने के लिए प्रस्तुत नही कर पाता। इसी समय इडा मनु के पास आकर उन्हें उद्‌बोधन देते हुए समझाती है कि "यदि नियामक ही स्वयं नियमों की अवहेलना करे तब निश्चय ही सब कुछ नष्ट हो जाता है निर्बाधित अधिकार का उपभोग आज तक कोई भी नही कर पाया है।" इड़ा मनु को मानव-सृष्टि का रहस्य समझाते हुए कहती है कि "मानव तो वस्तुतः उस 'महाचिति' का ही रूप है। किन्तु नाना प्रकार के आवरणों से आवेष्टित हो जाने के कारण उसे एकत्व के स्थान पर द्वयता की प्रबल अनुभूति होती है।" इड़ा मनु को उदबुद्ध करते हुए कहती है कि "इस विश्व के कण-कण मे उस अनन्त चेतना का संगीत गुंजरित हो रहा है। तुम्हें भी इस विश्व-संगीत में अपना स्वर मिलाकर ताल-ताल पर, लय के साथ चलना चाहिए। लय और ताल को छोड विवादी स्वर का छेड़ना उचित नहीं।" इड़ा

के इस उद्‌बोधन के बाद भी मनु का अहंकारी चित्त शांत नही होता। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि यदि प्रजापति होने के बाद भी उनकी वैयक्तिक अभिलाषाएँ अपूर्ण रहें, तब तो उनका प्रजापति होना ही व्यर्थ है। अपने प्रजापति होने के अहंकार में मनु इड़ा को भी अपने वश में करना चाहते है। इड़ा के विरोध करने पर भी बलपूर्वक उसे अपनी बाँहों में आबद्ध कर लेते है। इसी समय सारस्वत प्रदेश की जनता अपनी रानी की रक्षा के लिए राजमहल के सिंह-द्वार को तोड़कर भीतर प्रवेश करती है। मनु यह देखकर कि जिस प्रजा के उत्थान के लिए उन्होंने श्रम का विभाजन कर वर्गों की योजना की, सुख-समृद्धि के साधन बनाये, वही आज उनके विरुद्ध है, और भी क्षुब्ध हो उठते है। क्रोधपूर्वक वे अपने दुर्लक्ष्यी धनुष से अपनी ही प्रजा का संहार करने लगते है। आकुलि और किलात - जिन्होने कभी मनु का साथ देकर उन्हे यज्ञ में पशु-बलि के लिए प्रेरित किया था—वे अब मनु के विरुद्ध विद्रोही प्रजा के नेता थे। मनु सर्वप्रथम उन दोनों का संहार करते है। इड़ा प्रजापति और प्रजा के इस संघर्ष को रोकने का प्रयास करती है। किन्तु उसका प्रयास विफल सिद्ध होता है। रक्तोन्मद मनु स्वयं अपनी ही प्रजा का निर्मम संहार करते हैं और प्रजा भी साहसपूर्वक उनका विरोध करती है। अन्ततः मनु मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। चारों ओर पृथ्वी पर रक्त की नदी फैल जाती है।

निर्वेद—मनु और उनकी प्रजा के रक्तिम संघर्ष के उपरान्त अब सारस्वत प्रदेश विगत कर्म के विष-विवादमय आवरण मे आवेष्टित क्षुब्ध, मलिन एवं मौन था। पवन के प्रवाह में भी अवसादमयी खिन्नता व्याप्त थी। इस प्रकार के नीरव, मार्मिक वातावरण में इडा का नारी-सुलभ कोमल हृदय अतीत की घटनाओं को स्मरण कर आत्मग्लानि से पीडित हो उठा। सूने मंडप में क्षत-विक्षत पड़े हुए मनु के प्रति उसके मन में घृणा एवं ममता के परस्पर विरोधी भावो का आरोह-अवरोह होने लगा। इड़ा अपनी ही दुश्चिन्ताओं में लीन थी कि उसे सहसा दूर से आती हुई एक करुण ध्वनि सुनाई दी। कोई दुखिया अपने प्रवासी प्रियतम को खोजती हुई चली आ रही थी। इड़ा ने उठकर देखा कि सामने राजपथ पर एक धुँधली-सी छाया चली आ रही है, जिसका शरीर शिथिल, वसन विशृंखल और वेणी खुली हुई है। उसके साथ एक शिशु भी है। इड़ा ने उनके समीप पहुँच उन्हें सात्वना दी और पूछा कि वे किसे खोज रहे हैं? इसी समय वेदी की ज्वाला मंडप को आलोकित करती हुई सहसा धधकी और उस श्रात-क्लात

स्त्री (श्रद्धा) ने देखा कि अपने जिस प्रियतम (मनु) को वह खोज रही थी, वे वहाँ उस मंडप मे घायल पड़े हुए हैं। मनु की यह दशा देख श्रद्धा का हृदय करुणार्द्र हो उठा। उसने धीरे-धीरे मनु के क्षत-विक्षत शरीर को सहलाते हुए अपने शिशु (कुमार) को आवाज दी "अरे, देख पिता हैं पड़े हुए।" पिता का नाम सुनते ही कुमार का पितृ-प्रेम के लिए लालायित मन गद्‌गद हो उठा। वह दौड़कर वहाँ पहुँचा जहाँ मनु बेसुध पड़े हुए थे। वह मंडप जो थोड़ी देर पहले सूना-सूना, वीरान-सा था, अब मुखरित हो उठा। सारा वातावरण आत्मीयता-संवलित उस छोटे से परिवार के माधुर्य से स्निग्ध बन गया।

प्रातःकाल मनु की मूर्च्छा दूर हुई। अपने समीप श्रद्धा को देखकर उनका हृदय विगत की घटनाओ का स्मरण कर विक्षुब्ध हो जाता है। पश्चात्ताप का अनुभव करते हुए वे श्रद्धा से उन्हे इस भयावह अन्धकार से कहीं दूर ले चलने की प्रार्थना करते है। अपनी इस विपन्न स्थिति मे उन्हें बोध होता है कि श्रद्धा ही उनके मानस-शतदल की मकरंद है, उनकी हृदय-रूपी सीपी के लिए स्वाती की बूँद है। उनका जीवन यदि चिर अतृप्ति है, तो श्रद्धा उस अतृप्ति का शमन करने वाली संतुष्टि है। सुहाग की अजस्र वर्षा, स्नेह की मधुमयी रजनी है। मनु भावावेश मे श्रद्धा के सामने अपने मन की ग्रंथियों को खोलते चले जाते हैं और इसी प्रकार धीरे-धीरे दिन बीत जाता है, रात्रि आती है। किन्तु मनु के हृदय का उद्वेलन अब भी शांत नही हो पाता। जीवन उन्हे एक विकट पहेली, एक इन्द्रजाल, लगता है। वे सोचते है कि जीवन मे अनेक व्यथाएँ झेलने के बाद अब इस इन्द्रजाल से भागना ही ठीक है। अपने कलुषित आचरण के कारण उन्हें श्रद्धा का साक्षात्कार करने में भी संकोच का अनुभव होता है। अगले दिन सभी देखते हैं कि मनु वहाँ नहीं है। कुमार व्याकुल होकर अपने पिता को खोजने लगता है। इड़ा स्वयं को अपराधी अनुभव करती है और कामायनी अपने मे ही उलझी हुई मौन, गंभीर, स्थिर बैठी रह जाती है।

दर्शन—मनु के चले जाने के बाद श्रद्धा भी अपने पुत्र कुमार को इड़ा के पास छोड़कर एक बार फिर उनकी खोज में निकल पड़ती है। अपनी वात्सल्य भावना के एकमात्र आलम्बन कुमार को छोड़ने से पहले वह उसे सृष्टि के मंगलमय चेतन रहस्य को समझाते हुए जीवन में 'समरसता' के प्रसार का आदेश देती है। इडा को भी वह समझाती है कि हृदय के बिना केवल बुद्धि का आश्रय ग्रहण करने पर मानव-जीवन अधूरा रह जाता है। जीवन के सर्वांगीण विकास

के लिए हृदय एवं बुद्धि—दोनों की परिपूर्णता आवश्यक है। श्रद्धा अपने पुत्र कुमार को भी इसी अभिप्राय से इड़ा के पास छोड़ जाती है जिससे कि वह माता की विश्वासमयी रागात्मक भावनाओं तथा पिता की मननशीलता के साथ-साथ इड़ा से बुद्धि-वैभव को प्राप्त कर अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर सके—

"हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार।
हर लेगा तेरा व्यथा-भार॥
यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय।
तू मननशील, कर कर्म अभय।
इसका तू सब सन्ताप-निचय।
हर ले, हो मानव-भाग्य-उदय।
सबकी समरसता कर प्रचार।
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।"[1]

कुमार और इड़ा को जीवन के स्वर्णिम विकास का संदेश देकर श्रद्धा प्रकृति के विस्तृत प्रागण मे एकाकी विचरण करते हुए अपने प्रियतम का संधान करने लगती है। अन्ततः सरस्वती नदी के एक निर्जन तट पर मनु और श्रद्धा की भेट होती हैं। उस समय श्रद्धा की उदार, करुणामयी मातृ-मूर्ति के समक्ष मनु को अपना व्यक्तित्व अत्यन्त लघु प्रतीत होता है। श्रद्धा की उदार अनुकम्पा से मनु के सामने से विस्मृति एवं अज्ञान का अंधकार दूर हो जाता है और सहसा उन्हे तांडव नृत्य मे लीन नटराज शंकर के प्रत्यक्ष दर्शन होते है। वे भाव-विभोर होकर श्रद्धा से कहते है - श्रद्धे ! बस, तुम मुझे नटराज शिव के उन पावन चरणो तक ले चलो जहाँ कि सभी पाप-पुण्य जलकर पावन हो जाते हैं, मनुष्य का असत्य ज्ञान नष्ट हो जाता है और समरसता की स्थिति में पहुंचकर अखंड आनन्द की प्राप्ति होती है।

रहस्य—जीवन के संघर्षो से थके हुए मनु शांति-लाभ की कामना से श्रद्धा के साथ कैलाश शिखर की ओर अग्रसर हुए। पर्वत प्रदेश का प्राकृतिक दृश्य अद्भुत एवं अनुपम था। पर्वतमाला की ऊंचाइयो पर पहुंचने पर नीचे बिजली के गहने पहने हुए, इन्द्रधनुष की आभा से मडित बादल कुञ्जर-कलभ-सदृश

१—कामायनी-दर्शन, पृ० २५६

इठलाते दिखाई देते थे। निम्न प्रदेश मे बहते हुए शत-शत निर्झर इस प्रकार प्रतीत होते थे कि मानो श्वेत गजराज के गण्डस्थल से निकली मधु-धाराएँ बिखरी हुई हों। मनु ने पर्वत के उच्च शिखर से जब नीचे देखा तो सारा प्राकृतिक दृश्य उन्हे एक चित्रपटी-सा प्रतीत हुआ, निरन्तर बहते हुए नद दूरी के कारण रेखाओं से स्थिर दिखाई दिए।

निरन्तर ऊपर चढ़ते-चढते मनु थक गए। उन स्वजनों-परिजनों के प्रति, जिन्हे वे नीचे छोड आए थे, उनके मन में मोह उत्पन्न हुआ। किन्तु श्रद्धा उन्हें संबल प्रदान करती है और पर्वत प्रदेश के पुण्य-पुनीत वातावरण की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हुए समझाती है कि जहाँ हम आकर पहुँच चुके है, वहाँ से अब लौटना उचित नही। मनु विस्मय-विमुग्ध होकर जब सीमाहीन प्राकृतिक विस्तार की ओर देखते हैं तो उन्हें तीन अद्भुत, अनुपम, चमकीले ग्रह दिखाई देते है। श्रद्धा उन्हें उन तीनो ग्रहों का रहस्य समझाती है कि वे तीन ज्योतिर्मय ग्रह भाव, क्रिया और ज्ञानलोक है। इन तीनो में से एक ऊषा के कंदुक-सा सुन्दर, रागारुण भावलोक मधुर लालसा की लहरों से स्पंदित है। श्यामल वर्ण का ग्रह कर्मलोक है जो नियति द्वारा प्रेरित कर्म-चक्र की भांति निरन्तर घूम रहा है। श्रम, कोलाहल तथा विविध आकांक्षाओं की तीव्र पिपासा से यह लोक निरन्तर संत्रस्त है। इन दोनों से पृथक् रजत के समान उज्ज्वल ग्रह ज्ञानलोक है, जो सुख-दुख दोनो से उदासीन है। इसीलिए यहाँ जीवन का संचित रस अछूता है। शास्त्र यहाँ पर शस्त्र-रक्षा में पलते हैं। इन तीनो लोकों का परिचय देते हुए श्रद्धा जीवन के आधारभूत निगूढ़ रहस्य का उदघाटन करती है कि इन तीनो के पार्थक्य के कारण जीवन सदैव अपूर्ण रहता है।[1] जीवन की परिपूर्णता तो केवल इन तीनो - भाव, क्रिया, ज्ञान – के सामंजस्य द्वारा ही सम्भव है। इसी समय सहसा श्रद्धा की स्मिति 'महाज्योति-रेखा-सी' बनकर उन तीनों लोकों मे दौड़ जाती है जिससे वे तीनों सम्बद्ध हो जाते है।

१—"ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की ?
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की।"

— रहस्य, पृ० २८४

उन तीनों के सम्बद्ध होते ही स्वप्न, स्वाप, जागरण सभी भस्म हो जाते हैं। शृंग और डमरू का निनाद सकल विश्व मे बिखर जाता है और मनु भी श्रद्धा सहित उस 'दिव्य अनाहत पर निनाद' में पूर्ण तन्मय हो जाते हैं।

आनन्द—मनु को श्रद्धा की अनुकम्पा से जीवन के जिस रहस्य एवं आनंद की प्राप्ति हुई, उस आनन्द की प्राप्ति के लिए सारस्वत प्रदेश के आबाल, वृद्ध सभी नर-नारी भी कुमार एवं इड़ा के नेतृत्व में कैलाश पर्वत पर मानसरोवर पहुँचते हैं। उनके साथ धर्म-प्रतिनिधि एक वृषभ भी है, जिसे वे उत्सर्ग कर चिर-मुक्त कर देना चाहते है। मनु एवं श्रद्धा के समीप पहुँचकर सभी नर-नारी उन्हें भक्ति-भाव से प्रणाम करते है और अपने रिक्त जीवन-घट को पीयूष सलिल से भरने की कामना प्रकट करते हैं। मनु कैलाश शिखर की ओर संकेत करते हुए उन्हें 'समरसता' का संदेश देते है—

"मनु ने कुछ मुस्क्याकर,
कैलास ओर दिखलाया।
बोले "देखो कि यहाँ पर,
कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी,
हम केवल एक हमीं है।
तुम सब मेरे अवयव हो,
जिसमें कुछ नहीं कमी हैं।
शापित न यहाँ है कोई।
तापित पापी न यहाँ है।
जीवन-वसुधा समतल है,
समरस है जो कि जहाँ है।[1]

उस समय कैलाश पर्वत के उस स्निग्ध मधुर वातावरण में सम्पूर्ण विश्व के प्रति मंगलमयी श्रद्धा मानस-तट की ज्योतिष्मती, प्रफुल्लित बन-वेली प्रतीत हो रही थी। सारा वातावरण उसकी मधुर हँसी से मुखरित था। मदमाते मधु-कर मधुर नूपुर ध्वनि-सी गुंजार कर रहे थे। शीतल, मंद, सुगंधित मलयानिल पवन बह रही थी—और इस प्रकार वहाँ जीवन का मनोहर संगीत झंकृत हो

१—कामायनी—आनन्द, पृ० २९९—३००

रहा था। रश्मियाँ अप्सरियाँ बनी अंतरिक्ष में नाच रही थीं। जड़ और चेतन सभी समरस थे। सृष्टि के कण-कण में एक ही चेतनता का विलास था। सारा वातावरण सघन, अखंड आनन्द से परिपूर्ण था और मनु, कुमार, इड़ा, सभी सारस्वतवासी उस आनन्द की अनिर्वचनीय अनुभूति में तन्मय थे।

मनु, कुमार तथा सभी सारस्वतवासियों के द्वारा समरसता की स्थिति में आनन्दानुभूति के इस भव्य, उदात्त चित्रण के द्वारा 'कामायनी' की कथा-वस्तु का उपसंहार हुआ है। यह कथा आद्यन्त रूपकात्मक है तथा शैवदर्शन के 'आनन्दवाद' की प्रतिष्ठा इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है। शिल्प-विधान की दृष्टि से इस कथावस्तु की विनियोजना महाकाव्य की गरिमा से अभिमंडित है।

प्रश्न ३—कामायनी में किन प्राचीन कथा-सूत्रों का संकलन किया गया है तथा उनके संयोजन में कल्पना का प्रयोग कवि ने किस रूप में किया है? सप्रमाण उत्तर दीजिए।

उत्तर—प्रत्येक महाकवि जीवन के शाश्वत मूल्यों की स्थापना करते समय रमणीयता एवं प्रभविष्णुता की दृष्टि से ऐतिहासिक तथ्यों को आधार-रूप में ग्रहण करता है। कामायनी मे भी युग-युग के मानव-पुरुषार्थ एवं सौन्दर्य-चेतना की अभिव्यक्ति के लिए मनु, श्रद्धा एवं इड़ा की प्रागैतिहासिक काल की कथा को ग्रहण किया गया है, जिसका मूल आधार प्राचीन पौराणिक ग्रन्थ हैं। साहित्यकार का दृष्टिकोण इतिहासकार की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है। इतिहासकार की दृष्टि केवल ऐतिहासिक घटना-प्रसंगो सम्बन्धी तथ्यों के प्रामाणिक संकलन तक ही सीमित होती है, किन्तु साहित्यकार का उद्देश्य होता है ऐतिहासिक घटना-प्रसंगों के आधार पर जीवन के शाश्वत मूल्यों का अनुसन्धान एवं आख्यान। इस रूप मे साहित्यकार केवल द्रष्टा ही नही स्रष्टा भी होता है। इसीलिए उसे ऐतिहासिक घटना-प्रसंगों के अज्ञात सूत्रों को अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा जोड़ने का उन्मुक्त अधिकार भी प्राप्त होता है। इतिहासकार के लिए केवल भौतिक सत्य ही प्रामाणिक होता है, किन्तु साहित्यकार बाह्य सत्य के साथ-साथ अनुभूति के सत्य को भी प्रामाणिक मानता है। अरस्तू के अभिमतानुसार काव्य-सत्य वस्तु-सत्य या तथ्य का पर्याय नही है। साहित्य-कार के लिए जो घटित हो चुका है और देश-काल की सीमाओं में बँध जाने के कारण सीमित हो गया है, केवल वही सत्य नही है, जीवन-विधान के अनुसार जो सम्भाव्य है, वह भी सत्य है। इस रूप में काव्य-सत्य देश-काल की सीमाओं

से मुक्त सार्वभौम एवं सार्वकालिक होने के कारण वस्तु-सत्य की अपेक्षा अधिक भव्य एवं आकर्षक होता है। प्रसादजी ने भी इतिहास के वर्तमान संकुचित अर्थ को ग्रहण न करते हुए विवेच्य महाकाव्य के 'आमुख' में स्पष्ट किया है कि सत्य केवल तथ्य-संकलन तक ही सीमित नहीं है। सत्य तो आत्मा की अनुभूति का नाम है। सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है। इस दृष्टि से प्रसादजी ने 'कामायनी' की कथावस्तु के विविध सूत्रों के संयोजन में जिन पौराणिक ग्रन्थो का आधार ग्रहण किया है, उन पौराणिक ग्रन्थों को वे पूर्णतया काल्पनिक न मानते हुए, उनके पीछे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्वीकार करते है। डॉ० ट्रिकलर, पार्जिटर आदि पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार भी पुराणों मे वर्णित घटनाएँ निराधार और निस्सार दंतकथाएँ नहीं है, अपितु इनका वास्तविक ऐतिहासिक आधार भी है।

'कामायनी' की कथा महाप्रलय के चित्रण से प्रारम्भ होती है। जल-प्लावन की इस घटना का उल्लेख प्राय: सभी देशो के वाङ्मय में किसी-न-किसी रूप मे अवश्य मिलता है। 'प्रसाद' जी के मतानुसार जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। वह इतिहास ही है। 'मनवे वै प्रात:' इत्यादि से इस घटना का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण के आठवें अध्याय मे मिलता है। देवगण के उच्छृंखल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अंतिम अध्याय लगा और मानवीय भाव, अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नए युग की सूचना मिली।

ब्रह्म तथा विष्णुपुराण मे नैमित्तिक, प्राकृतिक तथा आत्यंतिक तीन प्रकार की प्रलयों का उल्लेख मिलता है। इन तीनों के अतिरिक्त अग्नि पुराण तथा श्रीमद्भागवत पुराण में एक चौथी 'नित्य' प्रलय का भी उल्लेख है, जिससे नित्य-प्रति प्राणियों का नाश होता रहता है। 'कामायनी' के प्रारम्भ में जिस प्रलय का वर्णन है, उसे अग्निपुराण तथा श्रीमद्भागवत-पुराण में 'ब्राह्म' नामक 'नैमित्तिक' प्रलय कहा गया है। इस जल-प्लावन के विषय में ऋग्वेद के नासदीय सूक्त मे केवल इतना ही मिलता है कि सृष्टि के विकास से पूर्व चारों दिशाओं में अंधकार ही अंधकार था और सर्वत्र जल व्याप्त था।

जल-प्लावन की विस्तृत कथा शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवें

अध्याय में मिलती है। वहाँ यह कथा इस प्रकार है कि एक बार हाथ धोने के लिए जल लेते समय मनु के हाथ में एक छोटी-सी मछली आ गई, जिसकी उन्होंने रक्षा की। उनके सद्व्यवहार को देखकर मत्स्य ने कहा कि प्रलय के समय मैं आपकी रक्षा करूँगा। कालान्तर में जब प्रलय हुई तो मनु मत्स्य के सींग में अपनी नौका बाँधकर उत्तरगिरि के शिखर पर जा पहुँचे। वहाँ ओघ के जल का अवतरण होने पर वह जिस स्थान पर उतरे उस स्थान को मनोरवसर्पण कहा गया है।

'अपीपरं वै त्वा, वृक्षे नावं प्रतिवध्नीष्व, तं तु त्वा मा गिरौ सन्त मुदकमन्तश्छैत्सीद् यावद् यावदुदकं समवायात्–तावत् तावदन्ववसर्पासि इति स ह तावत् तावदेवान्ववससर्प। तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति।'

जैमिनीय ब्राह्मण में भी यह कथा क्षीण रूप मे मिलती है, परन्तु वहाँ इस बात का वर्णन है कि जल-प्लावन के समय मनु की रक्षा मत्स्य द्वारा नहीं होती, वरन् सामवेद की ऋचाएँ स्वयं स्वर्णिम नौका बनकर मनु की रक्षा करती हैं।

प्रलय की यह कथा वेदों एवं ब्राह्मण-ग्रंथों के अतिरिक्त किंचित परिवर्तन के साथ महाभारत और प्रायः सभी पुराणों में मिलती है। महाभारत में मनु को विवस्वान का पुत्र तथा एक प्रतापी महर्षि बतलाया गया है। मत्स्य को प्रजापति ब्रह्मा कहा गया है। महाभारत मे वर्णित कथा का शतपथ ब्राह्मण की कथा से एक अन्तर यह भी है कि महाभारत के अनुसार जल-प्लावन के उपरान्त मनु ही नही, वरन् समस्त पदार्थों के बीज और सप्तर्षि भी उस नौका में बचे रहते हैं।

मत्स्यपुराण में यह कथा और भी परिवर्तित रूप मे विस्तार के साथ मिलती है। वहाँ मनु को दक्षिण-देश का राजा कहा गया है, जो मलय पर्वत पर तपस्या करने के लिए जाता है और वही एक दिन तर्पण करते समय उसकी मत्स्य से भेंट होती है। इस पुराण मे मनु के साथ तीन वेद—ऋक्, यजु, साम, समस्त विद्याओं के साथ सभी पुराणों चन्द्रमा, सूर्य, नर्मदा नदी, महर्षि मार्कण्डेय तथा शंकर के भी अवशिष्ट रहने का उल्लेख है।

भविष्य-पुराण में वर्णित मनु-मत्स्य की कथा बाइबल की कथा से बहुत कुछ साम्य रखती है। भविष्य पुराण मे मनु का नाम न्यूह दिया गया है और उन्हे आदम की संतान कहा गया है। इस पुराण मे नाव का भी वर्णन है, जो

पचास हाथ चौड़ी तथा तीन सौ हाथ लम्बी थी। जैन-ग्रन्थ 'कालसप्तिका' मे भी भविष्य-पुराण की भाँति 'अग्रतर अर' (प्रथम युग) का वर्णन दिया गया है। इस ग्रन्थ मे मनु का नाम विमलवाहन दिया गया है। जिनसेनाचार्य कृत 'महापुराण' मे विमलवाहन मनु को सातवाँ मनु कहा गया है।

भारतेतर ग्रन्थों में भी जल-प्लावन सम्बन्धी कथाएँ मिलती हैं। यूनानी साहित्य में ड्यूकलियन (Deucalion) की कथा मिलती है, जिसने जल-वृद्धि के समय अपनी तथा अपनी पत्नी पीरिया (Pyrrha) की एक नाव में बैठकर रक्षा की। जल-प्लावन की समाप्ति पर उसकी नाव ओथरस पर्वत (Mount Othrys) पर जाकर रुकी और उसी पर्वत-प्रदेश में ड्यूकलियन तथा उसकी पत्नी पीरिया ने नवीन सृष्टि का विकास किया।

यूनान के अतिरिक्त बेबीलोनिया के 'अत्रहसिस' (Atra-Hasis) तथा 'गिलगमेश' महाकाव्यों में वर्णित जिसूथ्रस (Xisuthros) और उत्नपिश्तम (Utnapishtam) की कथाएँ मनु की कथा से पर्याप्त साम्य रखती हैं। अत्रहसिस महाकाव्य की कथा के अनुसार जलप्लावन के उपरान्त अर्डेटीज (Ardates) का पुत्र जिसूथ्रस ही सुरक्षित बचा और उसी ने बेबीलोनिया का पुर्निर्माण किया। गिलगमेश महाकाव्य में बेबीलोनिया की सभ्यता का विकास करने वाले व्यक्ति का नाम 'उत्नपिश्तम' मिलता है। इस महाकाव्य के अनुसार परमेश्वर ई (God Ea) ने जनता के अत्यधिक दुराचार से क्षुब्ध होकर महान् जल-वृष्टि की, जिसमें सभी प्राणी नष्ट हो गए। उत्नपिश्तम ने सभी प्रकार के जीवों के जोड़े तथा कलाकारों सहित एक नाव में बैठकर अपनी रक्षा की और कालान्तर मे सृष्टि का विकास किया।

ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल में आदम की वंश-परम्परा के 'नूह' नामक एक धर्मात्मा व्यक्ति का उल्लेख है। परमेश्वर यहोवा द्वारा महावृष्टि होने पर एक तीन सौ हाथ लम्बी, पचास हाथ चौड़ी तथा तीस हाथ ऊँची नौका मे धर्मात्मा नूह अपने परिवार तथा विभिन्न प्राणियों के एक-एक जोड़े के साथ-साथ सवार हुआ तथा जब उनकी नौका अरारात पर्वत पर जाकर रुकी, तब वहाँ उन्होने एक नई सृष्टि का प्रसार किया।

कुरानशरीफ में भी बाइबिल से साम्य रखती हुई कथा मिलती है। इसमें भी हजरत नूह के नौका द्वारा सुरक्षित बचने का वर्णन है। अन्तर केवल इतना है कि हजरत नूह की नाव जिस स्थान पर जाकर रुकी, उस स्थान

का नाम बाइबिल में 'अराराट' तथा कुरान में 'जूदी' मिलता है।

जल-प्लावन की यह घटना वैज्ञानिक प्रमाणों से भी परिपुष्ट है। भूगर्भ-शास्त्रियों के अनुसार सृष्टि परिवर्तनशील है। कभी-कभी भूकम्प आदि कारणो से पृथ्वी तल के अनेक प्रदेश सागर मे विलीन हो जाते हैं और सागर में छिपे हुए द्वीप बाहर निकल आते हैं। डॉ० डी० एन० वाडियाल के अनुसार परमिमन्न काल से ही हिमालय के आसपास समुद्र का मल एकत्रित होता चला जा रहा था। धीरे-धीरे उस स्थान पर जल विलीन होता चला गया और सागर में छिपे हुए हिमालय के शैल-शृंग उठकर ऊपर आ गए और इस परिवर्तन से जल-प्लावन की अद्भुत घटना घटित हुई।

'कामायनी' की दूसरी प्रसिद्ध घटना है— मनु और श्रद्धा का मिलन एवं परिणय। 'प्रसादजी' मनु को ऐतिहासिक पात्र मानते हैं। उनके मतानुसार 'मनु भारतीय इतिहास के आदिपुरुष हैं, राम, कृष्ण और बुद्ध उन्ही के वंशज हैं।' पुराणों मे चौदह मन्वन्तरों की कल्पना की गई है और इस सातवे मन्वन्तर के प्रवर्त्तक वैवस्वत मनु माने गए हैं। वैवस्वत मनु के जन्म की कथा ऋग्वेद मे मिलती है जहाँ उन्हें सूर्य का पुत्र कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में मनु को श्रद्धादेव कहा गया है—'श्रद्धादेवो वै मनुः' और उनके द्वारा पाक-यज्ञ किये जाने का भी उल्लेख है। 'मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजे; यदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते।' ऐतरेय तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी प्रजापति के द्वारा सृष्टि के विकास से पूर्व तप किए जाने का वर्णन है।

मनु के साथ श्रद्धा का उल्लेख ऋग्वेद में ऋषियों की तरह मिलता है और वहाँ उसे कामगोत्र की कन्या कहा गया है। श्रद्धा वाले सूक्त मे सायण ने श्रद्धा का परिचय देते हुए लिखा है, "कामगोत्रजा श्रद्धानार्मषिका।" बालखिल्य सूक्त में उसे सूर्य की पुत्री कहा गया है। यजुर्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण में भी उसका सूर्य की पुत्री के रूप में उल्लेख है – 'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता।' तैत्तिरीय ब्राह्मण मे उसे काम की पुत्री न कहकर काम की माता कहा गया है। पुराणों में भी सर्वत्र उसे दक्ष प्रजापति की कन्या तथा काम की माता कहा गया है। मुण्डक तथा प्रश्नोपनिषद् मे वह परम ब्रह्म की कन्या मानी गई है।

श्रद्धा के परिणय के विषय मे भी भारतीय ग्रन्थो में विभिन्न मत मिलते है। ऐतरेय ब्राह्मण मे श्रद्धा को सत्य की पत्नी कहा गया है। तैत्तिरीय तथा

शतपथ ब्राह्मण में मनु के लिए 'श्रद्धादेव' शब्द आया है, जिससे श्रद्धा मनु की पत्नी सिद्ध होती है। पुराणों मे कही-कही श्रद्धा को धर्म की पत्नी भी कहा गया है, किन्तु श्रीमद्भागवत पुराण मे श्रद्धा का मनु की पत्नी के रूप मे स्पष्ट उल्लेख है और इन्ही वैवस्वत मनु से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है—

'ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान्।'

श्रद्धा के साथ मिलन होने के वाद मनु उसी निर्जन प्रदेश में सृष्टि का आरम्भ करते हैं। किन्तु इसी समय असुर पुरोहित आकुलि और किलात आकर उन्हें मैत्रावरुण-यज्ञ करने की प्रेरणा देते हैं। उनसे प्रेरित होकर वैवस्वत मनु यज्ञ के हेतु श्रद्धा द्वारा पालित पशु की वलि देते है और सोमरस पान करते हैं। ये आकुलि और किलात भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनका उल्लेख ऋग्वेद के दशममण्डल में असुर पुरोहित के रूप में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में भी इन्हें असुर-पुरोहित कहा गया है, जिनकी प्रेरणा से मनु मैत्रा-वरुण यज्ञ करते हैं। यज्ञ-स्तूप से बाँधकर पशुओं के वध का वर्णन यजुर्वेद में मिलता है। वहाँ यज्ञ के साथ सुरा तथा सोम-पान का भी उल्लेख किया गया है।

'कामायनी' की तीसरी प्रमुख घटना है मनु-इड़ा का मिलन एवं सारस्वत प्रदेश का विकास। इड़ा का उल्लेख ऋग्वेद में कई स्थानों पर हुआ है। यह प्रजापति मनु की पथ-प्रदर्शिका तथा मनुष्यो का शासन करने वाली कही गई है— 'इड़ामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम।' इड़ा सम्बन्धी कई मंत्र ऋग्वेद मे मिलते हैं, जहाँ सरस्वती एवं मही के साथ उसे भी देवी कहकर सम्बोधित किया गया है— 'सरस्वती साधयन्ती धियं न इड़ा देवी भारती विश्वतूर्तिः तिस्रो देवीः स्वधयावर्हि रेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निपद्य।' "आनो यज्ञं भारती तूय मेत्विड़ा मनुष्वदिह चेतयन्ती। तिस्रो देवीर्वर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु।" इड़ा के जन्म का वर्णन वेदों में नही मिलता। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उसकी उत्पत्ति मनु द्वारा किये गये यज्ञ से हुई। इसलिए मनु-पुत्री होने के कारण उसे मानवी तथा मैत्रावरुण यज्ञ से उत्पन्न होने के कारण मैत्रावरुणी भी कहा गया है। ब्रह्म, हरिवंश, मत्स्य तथा श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में भी उसके जन्म की यही कथा है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इसी इड़ा के सहयोग से मनु ने सृष्टि का विकास किया। वेदो मे मनु-इड़ा के अनैतिक सम्बन्ध का वर्णन नही है। ऐतरेय ब्राह्मण मे इतना उल्लेख अवश्य मिलता है कि एक बार प्रजापति ने अपनी दुहिता के साथ अनैतिक आचरण किया, जिससे देवताओं ने क्रोधित होकर उन्हे दण्ड दिया। मत्स्यपुराण में भी इसी प्रकार की कथा मिलती है। शिव-महिम्न-स्तोत्र मे शिव द्वारा काम-मोहित प्रजापति पर वाण चलाने का वर्णन है।

जिस सारस्वत प्रदेश का विकास मनु ने किया, उसका स्पष्ट उल्लेख पुराणो मे नही मिलता। 'प्रसादजी' ने प्राचीन सरस्वती नदी का स्थान पश्चिमी अफगानिस्तान के पास माना है। उनके मतानुसार कन्धार का समीपवर्ती स्थान ही प्राचीन सारस्वत प्रदेश है। स्कन्दपुराण मे सरस्वती नदी के समीप स्थित द्वारावती नगरी का उल्लेख है। ब्रह्मपुराण मे मेरु पर्वत के चारों ओर नौ हजार योजन तक विस्तृत इलावृत्त या इड़ावृत्त नाम के प्रदेश का वर्णन मिलता है। मारकण्डेय पुराण में जम्बूद्वीप के तीन दक्षिण खण्डों के मध्य मे स्थित इड़ावृत्त वर्ष का उल्लेख किया गया है। इड़ावृत्त वर्ष का ऐसा ही वर्णन मत्स्य, वायु तथा अग्नि-पुराण में भी मिलता है।

'कामायनी' के अन्तिम भाग मे शिव के ताण्डव नृत्य तथा श्रद्धा एवं मनु की कैलाश-यात्रा का वर्णन है, जहाँ पहुंचकर श्रद्धा भाव, कर्म और ज्ञान—इन तीनो लोकों का समन्वय करती है। इससे उन्हे सामरस्य की अवस्था में पूर्णानन्द की अनुभूति होती है। 'कामायनी' के इस अन्तिम भाग का प्रणयन दार्शनिक सिद्धान्तो के आधार पर हुआ है। वैदिक ग्रन्थों में शिव के तांडव नृत्य का उल्लेख नही है। ब्रह्मपुराण तथा लिगपुराण में शिव द्वारा तांडव नृत्य किये जाने का वर्णन मिलता है। 'शिव-ताडव स्तोत्र' में शिव के इस नृत्य का विस्तारपूर्वक चित्रण किया गया है। इसके अतिरिक्त 'शिव-महिम्न-स्तोत्र' तथा 'देवी-नाम-विलास' मे भी इसका उल्लेख मिलता है।

कामायनी के 'रहस्य' सर्ग मे प्रसादजी ने इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूपी जिस 'त्रिपुर' का वर्णन किया है, वह भी पुराणाश्रित है। 'शतपथ ब्राह्मण' में त्रिपुर सम्वन्धी एक कथा मिलती है। इस कथा के अनुसार असुरों ने देवताओं के साथ पारिस्परिक प्रतिस्पर्धा मे विजयी होने के लिए भूलोक, अन्तरिक्ष, एवं द्यु लोक मे तीन पुरो का निर्माण किया और देवो ने 'उपसद' नामक अग्नि की उपासना

की, जिससे प्रसन्न होकर उस अग्नि ने असुरों के तीनों पुत्रों का नाश किया। महाभारत, शिवपुराण, लिंगपुराण तथा श्रीमद्भागवत पुराण मे भी असुरों द्वारा लोहे, चाँदी और स्वर्ण के तीन पुर निर्मित किये जाने का उल्लेख मिलता है। इन पुराणों में वर्णित कथाओं के अनुसार शिव ने देवताओं की रक्षा के लिए असुरों के इन तीनों पुरों का नाश किया। शैवागमों में त्रिपुर की दार्शनिक व्याख्या भी मिलती है। तंत्रालोक में इच्छा, ज्ञान और क्रिया को त्रिपुर माना गया है। इसकी अधिष्ठात्री त्रिपुरादेवी कही गई है जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव-रूप है। इन तीनों पुरों का पार्थक्य उपाधि रूप संसार को प्रकट करता है तथा इनका सामञ्जस्य समाधि में परिणत हो जाता है। इसी को निरञ्जना अवस्था कहा गया है जिसमें योगी शिवत्व को प्राप्त करता है। 'त्रिपुरा रहस्य' में श्रद्धा को ही 'त्रिपुरादेवी' माना गया है जिसके द्वारा त्रिपुरों में सामञ्जस्य स्थापित होता है।

मत्स्य, वायु तथा मार्कण्डेय आदि पुराणों में कैलाश एवं मानसरोवर का भी वर्णन मिलता है। वहाँ इनकी स्थिति हिमालय के मध्य पृष्ठभाग में बताई गई है। शैवागमों में इसे आनन्द-स्थल कहा गया है। इसी स्थान पर पहुँचकर मनु अखंड आनन्द की प्राप्ति करते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्द के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन मिलता है, जिनमें ब्रह्मानन्द को सर्वोपरि कहा गया है। 'त्रिपुरा-रहस्य' के अनुसार श्रद्धा की प्राप्ति से ही मनुष्य को इस आत्यन्तिक सुख या आनन्द का अनुभव हो जाता है। 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम' के अनुसार मनुष्य तभी तक सांसारिक भोग-विलास में लीन रहता है, जब तक कि उसे संसार की वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता। इस संसार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने पर वह संसारी जीव चिन्मयी पराभूमि पर पहुँच जाता है जहाँ उसे चिदानन्द की प्राप्ति होती है।

कल्पना एवं मौलिकता

इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि इतिहास को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाय तो 'कामायनी' की अधिकांश प्रमुख घटनाएँ इतिहास-सम्मत सिद्ध होती हैं। इतिहास और काव्य में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि इतिहास अतीत की घटनाओं का यथातथ्य वर्णन करता है, जबकि काव्य में वाग्वैदग्ध्य एवं उक्ति-वैचित्र्य के कौशल द्वारा उन्हीं घटनाओं का पुनर्सृजन होता है। ऐसा करते समय काव्य-प्रणेता ऐतिहासिक वातावरण तथा मानव-प्रकृति का सदैव ध्यान

रखता है। किन्तु इसके साथ ही उसको यह अधिकार भी होता है कि वह उत्पाद्य-लावण्य के लिए विद्यमान मे संशोधन तथा अविद्यमान की कल्पना कर सके। 'प्रसादजी' ने भी 'कामायनी' के कथा-निर्वाह, रस की सृष्टि, पात्रो के गौरव एवं स्वाभाविकता की रक्षा तथा फलागम की दृष्टि से यत्र-तत्र अनेक संशोधन और परिवर्तन किये है।

जल-प्लावन का वर्णन प्रायः प्रत्येक देश के वाङ्मय मे किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलता है। यूनान, वेबीलोनिया के साहित्य तथा बाइबिल आदि में इस जल-प्लावन का कारण जनता मे फैले हुए अनाचार तथा दुष्कर्मों को माना गया है। 'प्रसाद जी' ने भी 'कामायनी' मे जलप्लावन के इसी कारण को ग्रहण किया है। उनके मतानुसार मानव-सभ्यता की स्थापना से पूर्व देव-सृष्टि थी और जब देवताओं का अनाचार अपनी सीमा का अतिक्रमण कर गया तो महा-प्रलय हुई—

"चिर-किशोर-वय, नित्य विलासी,
सुरभित जिससे रहा दिगंत
आज तिरोहित हुआ कहां वह
मधु से पूर्ण अनंत वसंत ?
× × ×
आह सर्ग के अग्रदूत ! तुम
असफल हुए, विलीन हुए,
भक्षक या रक्षक, जो समझो,
केवल अपने मीन हुए।

शतपथ ब्राह्मण, मत्स्य तथा भागवत पुराण आदि भारतीय ग्रन्थों में मनु द्वारा मत्स्य के सींग में नौका बांधकर उसी की सहायता से हिमालय पर्वत पर पहुंचने का उल्लेख मिलता है। 'प्रसाद जी' ने स्वाभाविकता तथा वैज्ञानिकता की दृष्टि से मत्स्य के सींग पर नाव बांधने का उल्लेख नही किया है। उनके अनुसार मनु की नाव एक महामत्स्य के चपेटे के कारण जीर्ण-शीर्ण हो गई और उत्तर में एक पर्वत शृंग से जा टकराई।

महामत्स्य का एक चपेटा
दीन पोत का मरण रहा।
× × ×

किन्तु, उसी ने ला टकराया
इस उत्तर-गिरि के शिर से,
देव सृष्टि का ध्वंस अचानक
श्वास लगा लेने फिर से।

भारतीय ग्रन्थों के अनुसार मनु जलप्लावन के उपरान्त सृष्टि की कामना से यज्ञ करते हैं। प्रलय से बचे हुए आहत व्यक्ति का जलप्लावन के उपरान्त एकदम पुत्रेष्टि यज्ञ करना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। इसीलिए 'कामायनी' में मनु संस्कारवश निष्काम पाक-यज्ञ करते हुए दिखाए गये है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ से बचे हुए अन्न को मनु एक स्थान पर रख आए थे, जिसे देखकर 'इड़ा' उनके पास आई थी, किन्तु 'प्रसाद जी' ने मनु की भेंट पहले 'श्रद्धा' से कराई है। वह मनु द्वारा प्रतिष्ठित अन्न को देखकर उनके पास आती है। इड़ा से मनु का मिलन तब होता है, जब वे ईर्ष्यावश श्रद्धा को छोड़ देते है और इधर-उधर भटकते हुए सारस्वत प्रदेश में पहुँचते हैं।

शतपथ ब्राह्मण आदि भारतीय ग्रन्थों में मनु इड़ा का सम्बन्ध पिता-पुत्री का माना गया है, किन्तु नायक के गौरव की रक्षा के लिए 'प्रसाद जी' ने उनके इस सम्बन्ध को स्वीकार नही किया है। कामायनी में केवल इतना ही संकेत मिलता है कि प्रजा होने के नाते इड़ा मनु की पुत्री के समान थी। और वह मनु एवं श्रद्धा के प्रति अपने मन में पूज्य भाव रखती थी। दर्शन सर्ग में एक स्थान पर इड़ा श्रद्धा को 'अम्बे' शब्द से सम्बोधित करती हैं। यह सम्बोधन किसी पारिवारिक सम्बन्ध का नही केवल पूज्य भाव का व्यंजक है—

"अम्बे फिर क्यों इतना विराग,
मुझ पर न हुई क्यों सानुराग ?"

भारतीय पुराणों के अनुसार प्रजापति ने अपनी दुहिता के साथ अनैतिक व्यवहार किया, जिसके कारण उन्हें देवताओ का कोप सहन करना पड़ा। किन्तु प्रजापति की कथा के इस प्रसंग में मनु का नाम किसी भी प्रसिद्ध ग्रन्थ में नही मिलता। 'प्रसाद' ने 'कामायनी' मे इस घटना को प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण किया है। मनु द्वारा इड़ा पर अपना अधिकार करने की चेष्टा पर, देवताओं के कोप के साथ-साथ जन-क्रांति भी दिखाई गई है, जिसका नेतृत्व असुर-पुरोहित आकुलि और किलात करते हैं।

भागवत में वैवस्वत मनु के दस पुत्रों का उल्लेख मिलता है—

"ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान्।'

किन्तु 'कामायनी' में कथा-निर्वाह की दृष्टि से तथा अनावश्यक विस्तार के भय से मनु-श्रद्धा के एक ही पुत्र मानव या 'कुमार' का उल्लेख किया गया है। मनु का श्रद्धा के पुत्र-प्रेम से ईर्ष्यालु होकर भाग जाना भी कवि-कल्पित ही है।

'कामायनी' में 'प्रसाद जी' ने भौतिकता की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को अधिक महत्त्व दिया है। इसीलिए उन्होंने विद्यमान में संशोधन के साथ-साथ कई काल्पनिक प्रसंगों की भी उद्भावना की है। श्रद्धा के प्रणय-सूत्र में बँधने से पूर्व काम-सन्देश की कल्पना की गई है। इस कल्पना का उद्देश्य प्रकृति के मूल में व्याप्त काम के विशुद्ध स्वरूप तथा सृष्टि-कार्य में उसके महत्त्व की स्थापना करना है। कवि ने अपनी उर्वर कल्पना द्वारा श्रद्धा के हृदय में उदित स्त्रियोचित स्वाभाविक लज्जा का भी सजीव चित्रण किया है।

इसके अतिरिक्त श्रद्धा का मातृगृह-निर्माण, उसकी दिनचर्या, तकली कातना, ऊन की पट्टी बुनना, पशु-पालन, मनु द्वारा यज्ञ में पशु को बलि दिये जाने पर श्रद्धा का मान करना आदि प्रसंग भी कवि-कल्पना प्रसूत हैं।

'कामायनी' के उत्तर भाग की अधिकाश घटनाएँ कवि-कल्पित है। आधुनिक राजनीति का स्वरूप स्पष्ट करने तथा गांधीवाद के प्रभाव के कारण यंत्रवाद एवं भौतिकता की एकाकी उन्नति को निष्फल दिखाने के लिए 'कामायनी' में मनु के शासन के विरुद्ध जन-क्रांति दिखाई गई है।

श्रद्धा का स्वप्न देखकर युद्ध-क्षेत्र में जाना, वहाँ पहुँचकर उसका इड़ा से वार्तालाप, मनु का ग्लानिवश फिर भाग जाना और श्रद्धा द्वारा उसकी पुनः खोज करना भी कवि कल्पित है। कथा-निर्वाह की दृष्टि से इन काल्पनिक प्रसंगों की उद्भावना की गई है और इनके द्वारा श्रद्धा के उदात्त चरित्र का भी उद्घाटन हुआ है। इड़ा और श्रद्धा के मिलन द्वारा बुद्धि और हृदय के सामंजस्य को प्रकट किया गया है।

कथा के अन्तिम भाग मे श्रद्धा और मनु की कैलाश-यात्रा का वर्णन है, जहाँ पहुँचकर मनु सामञ्जस्य की अवस्था में अखण्ड आनन्द की अनुभूति करते हैं। कालान्तर में इड़ा, कुमार तथा सारस्वत प्रदेशवासियों द्वारा भी कैलाश जाने का उल्लेख किया गया है। ये सभी घटनाएँ भी काल्पनिक है। रूपक-

निर्वाह की दृष्टि से इनकी उद्‌भावना की गई है, जिसके द्वारा 'प्रसाद जी' ने प्रत्यभिज्ञादर्शन के आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है।

इतिहास में कल्पना का मिश्रण करते समय कवि ऐतिहासिक वातावरण के विषय में भी सर्वत्र सचेष्ट रहा है। मनु फूँस की झोपड़ी बनाकर रहते हैं। पशु-पालन, थोडी-बहुत कृषि और आखेट से अपना निर्वाह करते हैं। श्रद्धा उन की पट्टियाँ बुनती है, जिससे वे अपना तन ढाँपते है। समाज-शास्त्र के अनुसार विश्व के प्रारम्भिक काल मे मातृ-सत्ता थी तथा बाद मे पितृ-सत्ता स्थापित हुई। "कामायनी' मे श्रद्धा तथा इड़ा दोनों ही मातृ-युग की प्रतीक हैं। सारस्वत प्रदेश में इड़ा मनु का पथ-प्रदर्शन करती है और उसके उपदेशानुसार वे सारस्वत प्रदेश का विकास करते है।

ऐतिहासिक वातावरण के साथ-साथ कवि ने पात्रों के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की भी रक्षा की है। पुराणो में मनु के दो व्यक्तित्व मिलते हैं—एक स्मृतिकार मनु का व्यक्तित्व और दूसरे मानव सृष्टि के निर्माता के रूप में मनु का व्यक्तित्व। 'प्रसाद जी' ने 'कामायनी' में उनके दोनों ही प्रकार के व्यक्तित्व चित्रित किये हैं। देवसृष्टि के विध्वंस के पश्चात् श्रद्धा के सहयोग से वे मानव-सृष्टि का विकास करते है। अतः उनका यह रूप मानवसृष्टि के निर्माता तथा मन्वन्तर के प्रवर्त्तक का रूप है। सारस्वत प्रदेश में कवि ने मनु को नियामक बनाकर उनके स्मृतिकार के रूप को व्यक्त किया है। ऋग्वेद, शतपथ तथा पुराणो में श्रद्धा का चित्रण एक भव्य एवं विश्वासमयी नारी के रूप में हुआ है। त्रिपुर-रहस्य तथा छांदोग्योपनिषद् मे उसकी भावमूलक व्याख्या भी मिलती है। 'प्रसाद जी' ने उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए उसमे दया, माया, ममता, त्याग, करुणा आदि सभी मधुर-कोमल एवं उदात्तभावों का समावेश किया है। इड़ा आदि अन्य पात्रों का चरित्र-चित्रण भी इतिहास-सम्मत है।

'कामायनी' में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर दर्शन एवं मनोविज्ञान के सत्य का उद्‌घाटन किया गया है। इसीलिए उसमें इतिहास के भौतिक रूप की अपेक्षा उसके मनोवैज्ञानिक रूप को अधिक महत्त्व दिया गया है। परिणाम-स्वरूप ऐतिहासिकता के साथ-साथ रूपक-तत्त्व का भी समावेश हो गया है। मनु, श्रद्धा और इड़ा अपने ऐतिहासिक अस्तित्व की रक्षा करते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करते है। 'प्रसाद जी' के अनुसार मनु अर्थात् मन के

दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है—'श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रसादजी' ने अपनी उर्वर कल्पना द्वारा श्रद्धा, मनु तथा इड़ा की यत्र-तत्र असम्बद्ध रूप में बिखरी हुई कथाओं का संकलन करके एक निश्चित सुसम्बद्ध कथानक की योजना की है। मनु, श्रद्धा और इड़ा की पौराणिक कथा के साथ-साथ उन्होने मानव-मन के क्रमिक विकास की जिस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कथा को समानान्तर रूप से ग्रहण किया है, वह रूपकात्मक कथा देश-काल की सकुचित सीमाओं से मुक्त मानव-सृष्टि के विकास की शाश्वत कथा है। इतिहास को यदि व्यापक अर्थ मे ग्रहण किया जाय तो 'कामायनी' के सभी पात्र, जल-प्लावन आदि सभी घटनाएँ एवं स्थान ऐतिहासिक सिद्ध होते हैं। उत्पाद्य-लावण्य की दृष्टि से विद्यमान में संशोधन तथा अविद्यमान की कल्पना भी की गई है, जिससे कथा-प्रवाह को शक्ति तथा पात्रों के चारित्रिक विकास को दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार प्राप्त हुआ है।

प्रश्न ४—"सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसमें युगायुग के पुरुषों और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।"

अथवा

उपर्युक्त सिद्धान्त की दृष्टि से 'कामायनी' का विवेचन कीजिए और बताइये कि क्या 'कामायनी' इस दृष्टि से सफल रचना है?

उत्तर—'प्रसाद जी' 'कामायनी' के भूमिका भाग में एक स्थान पर 'सत्य' और 'पुरुषार्थ' की ही कुछ बात कह गए है, उन्होने 'सत्य' का अर्थ 'घटना' भी किया है और स्थूल अवस्था में उससे अभाव एवं मिथ्यात्व की प्रतीति भी बतलाई है, किन्तु उन्होंने 'सत्य' अर्थात् 'घटना' यानि की 'मिथ्या' में सन्निहित हेतुपरक अनुभूतिजन्य भाव को ही सत्य का सूक्ष्म और चिरंतन रूप स्वीकार किया है जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है। अरस्तू ने भी वस्तु-सत्य और काव्य-सत्य मे अन्तर स्वीकार किया है। कवि के लिए वस्तु-जगत का यथार्थ अर्थात् जो घटित हो चुका है, वही सत्य नही है, वरन् मानव-आदर्श, मानव-विश्वास तथा परम्परागत मानव-धारणाएँ भी सत्य है। वस्तु-सत्य, जिसे इतिहासकार तथ्य के रूप में ग्रहण करता है, देशकाल

की सीमाओं में आवद्ध होने के कारण सीमित होता है, किन्तु मानव-भावना और अनुभूति का सत्य लिये 'काव्य-सत्य' कहा जाता है सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सत्य-सनातन है, शाश्वत है, वह कभी मरता नही है, मर भी नहीं सकता और इसीलिए 'कामायनी' भी मरेगी नही। 'मनु' मर सकते हैं, मर चुके हैं, कामगोत्रजा कामायनी भी मर सकती है, मर भी गई है, – किन्तु 'मनु' का मनवत्व अर्थात् उनका समस्त पुरुषार्थ और उसकी प्रेरक 'कामायनी' विश्वासमयी 'श्रद्धा —दोनो सनातन हैं, चिरन्तन हैं, अमर है, दोनो ने आत्म-लाभ प्राप्त किया है, अन्ततः आनन्द-लोक मे जा पहुंचे है। श्रद्धा ने मनु के पुरुषार्थ को—अर्थात् मन को आत्म-प्राप्ति का—आत्मानन्द का मार्ग दर्शाया है, और मनु ने अर्थात् उनके अहं ने—उनकी कर्म चेतना ने—उनकी अस्मिता शक्ति ने—अर्थात् उनके पुरुषार्थ ने श्रद्धा को वल दिया है, उसको वह संभार दिया है, वह अवलम्व दिया है, जिसके सहारे वह विश्व का कल्याण कर सके।

'मनु' का पुरुषार्थ सर्जक है, 'इड़ा' पोषक है और 'श्रद्धा' मोक्षदायिनी है, प्राणों की हन्ता वनकर नही, अपितु एक पागल प्राण मे महाप्राण का संचार कर, वह जिन्दगी को जीना सिखाती है। उसने जीने का संदेश दिया है,[१] वह जीना और जिलाना चाहती है। सच्चे अर्थो मे वह जीवनदात्री है और उसने संघर्ष मे आहत मरणोन्मुख 'मनु' को जिलाकर 'आनन्द' लोक तक पहुंचा भी दिया है—किन्तु अकेले नहीं, उसका अंत तक साथ देकर !

वस्तुतः प्रश्न है कि कवि ने अनुभूति और भाव के अनुभावात्मक चित्रण के द्वारा किस रूप में, किस अर्थ में और किस सीमा तक युगों से प्रेरित मनुष्य जाति के युग-युग से राशिभूत पुरुषार्थ को अभिव्यक्त किया है, उसका यशोगान किया है। कवि ने पुरुषार्थ को दो अर्थो में ग्रहण किया है—

१. नारी के योग-वियोग के रहते हुए भी उसकी स्वीकृति से निरपेक्ष

१—'श्रद्धा सर्ग', पृ० ५५-५७

"औरो को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो—
सब को सुखी बनाओ।"

अर्थात् पुरुष के नारी-निरपेक्ष केवलमात्र अहंजन्य समस्त अन्तर्वाह्य चिंतन-कर्म के अर्थ में। यह पुरुषार्थ का संकुचित अर्थ है।

२. नारी की सम्पूर्ण सहयोग स्वीकृति से युक्त अहंनिरपेक्ष अन्तर्वाह्य कर्म के अर्थ में। यह पुरुषार्थ का विस्तृत एवं विशदतम अर्थ है और सही भी यही है। प्रमाणार्थ—

तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की,
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।

यहाँ आत्मस्थ 'काम' के द्वारा प्रवंचक मनु को प्रताड़ित कराते हुए कवि ने पुरुषार्थ-सम्वन्विनी अपनी उस मान्यता को स्पष्ट कर दिया है, जिसका ऊपर विवेचन किया जा चुका है। 'पुरुषत्व-मोह' शब्द-युग्म एक ओर नारी की सत्ता निरपेक्ष पुरुप की ऐकांतिक कर्मरत वीर्य भावना का द्योतक है, तो दूसरी ओर उस पुरुषार्थ-प्रेम मे नारी की स्वप्निल सत्ता की अनिवार्य स्वीकृति भी कवि को अपेक्षित है। 'चिंता' और 'आशा' सर्ग मे मनु के संकुचित अर्थात् नारी-निरपेक्ष पुरुषार्थ का ही वर्णन है। उनकी अतिशय प्राणवत्ता और दुर्घर्ष शरीर-शक्ति वही सिद्ध हो जाती है, जहाँ वह एकबारगी ही प्राणघाती प्रलय का भी मुख मोड़ सायास बच निकलते हैं और 'आशा' सर्ग में वह जीने के लिए लालाभी हो उठते हैं।[1] और वहाँ उनको जीवन के साज-संभार मे निरत दिखाया भी गया है। तत्पश्चात् 'श्रद्धा' का आगमन है और यही से 'मनु' के मन में

१—"जीवन ! जीवन की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह,
किसके चरणो में नत होता—
नव प्रभात का शुभ उत्साह।"
(आशा सर्ग, पृ० २७)

× × ×

"तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी—
जीकर क्या करना होगा ?
देव ! बता दो अमर वेदना
लेकर कब मरना होगा ?"
(वही, पृ० २८)

आकर्षण-द्वन्द्व व बीजरूपिणी नारी की सत्ता स्वतः ही संस्थापित हो जाती है। अपितु बीज की अपेक्षा यह कहना और भी अधिक उपयुक्त रहेगा कि यही से नारी की सत्ता से युक्त—अर्थात् उसके सम्पर्क से उद्वेलित मनु के मन में अहं और प्रेम से संयुक्त कर्म का, पुरुषार्थ का अंकुर फूट निकलता है और यही से अहं और प्रेम क' वह मनसा-संघर्ष आरम्भ हो जाता है, जिसने पुरुष के नारी-सहयोग सापेक्ष वास्तविक पुरुषार्थ को सदा-सदा के लिए दो खण्ड-धाराओं में विभक्त कर दिया है। देश-विदेश के आधुनिक दर्शन-शास्त्र की शब्दावली में पहला अर्थात् कोरे अह-भाव से आक्रांत संकुचित-पुरुषार्थ व्यक्तिवाद (Individualism) है, जिसका कठोरतम और शायद सबसे अधिक गर्हणीय रूप निरंकुशतावाद (Despotism) है, और 'प्रसाद' ने इन दोनो ही को उनके कर्म-कारण-प्रभाव और फल सहित अत्यन्त स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। मनु का अहम् भाव – अर्थात् उनकी अपनी आत्मरति–उनकी निर्विरोध वैयक्तिक –चेतना 'कर्म', 'ईर्ष्या' और 'स्वप्न' सर्ग मे उत्तरोत्तर बढती चली गई है और 'संघर्ष' सर्ग में वह इतनी निरंकुश हो उठी है कि मनु का प्रजापतित्व अपने अधिकार और अतिशय व्यक्तिवाद के उन्माद मे 'इड़ा' पर बलात्कार करने तक के लिए उद्यत हो जाता है और अपने इस नीच और लज्जास्पद कर्म मे प्रजा एवं दैवी शक्तियों द्वारा वर्जना मिलने पर उनका अहम् केवल कोरे आत्म भाव से आक्रान्त उनका स्वपरक पौरुष उन सबसे अकेला ही लोहा लेता है। किन्तु मनु की हठधर्मिता को अन्तत. मिलती हार ही है। क्योंकि उसमें नारी का—शुद्ध-बुद्ध-शक्ति का -- सहायक अंश नही है। यहाँ प्रेम पर ('वासना' शब्द का प्रयोग शायद अधिक उपयुक्त होगा) अहम् हावी है और इसीलिए अहम् हारा है। कहने का मन्तव्य यही है कि किसी समाज-निरपेक्ष व्यक्ति चेतना की अर्थात् स्वयं सापेक्ष शक्ति की कोई महत्ता नही है, कोई मूल्य नही है, क्योंकि वह मात्र संहारिणी है, निर्मात्री और संपोषिका नही। और कवि ने विश्व के इस चिरन्तन सत्य की अनुभूति को कल्याणप्रद-पुरुषार्थ-भाव की पृष्ठ-भूमि में रख उसको अत्यन्त ललित पदावली में व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है। दूसरी ओर पुरुषार्थ का समाज-सापेक्ष पक्ष भी कवि ने प्रस्तुत किया है और वस्तुतः 'कामायनी' का प्रतिपाद्य भी यही है, कवि का कथन भी यही है। इसकी संवाहिका 'श्रद्धा' और 'इड़ा' दोनों है—'श्रद्धा' मानवीय भावना की प्रतीक है और 'इडा' मानव-बुद्धि की। भावना और बुद्धि का कर्म से योग

होने पर एक आदर्श समाज की स्थापना— आनन्दमय लोक की प्राप्ति असंदिग्ध है। आधुनिक चिन्तनधारा की भाषा मे यही मानवता (Humanism) है, प्लेटो का आदर्श-प्रजातंत्र (An Ideal State) यही है। हृदय एवं बुद्धि के सामंजस्य पर आधृत धर्म, अर्थ और काम की सम्यक् समष्टि से युक्त पुरुषार्थ की इसी सतत्-कर्मशीलता मे सृष्टि का रहस्य—उसका सत्य सन्निहित है। 'प्रसाद' जी ने स्पष्ट कह दिया है—

'स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो—
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।'

अतः निष्कर्ष यही है कि भावरूपिणी 'श्रद्धा' जीवन सत्य के शिव-पक्ष की तथा शिव-अशिव की विभेद संस्थापिका बुद्धिरूपिणी 'इड़ा' सत् पक्ष की अभिव्यंजक है और भावना व बुद्धि से सहसंचालित 'कर्म' सौन्दर्य पक्ष का द्योतक है। प्राचीनो ने इसी को 'धर्म', 'अर्थ' और 'काम' की संज्ञा से अभिहित किया है तथा जिस भाँति इन तीनो की समष्टि का प्रति-फल 'आनन्द' है प्राचीनों की दार्शनिक शब्दावली में वही जीवन के अर्थात् पुरुषार्थ के 'धर्म', 'अर्थ' और 'काम' के सम्यक् समंजन के परिणामस्वरूप 'मोक्ष' है और इसीलिए वहाँ 'मोक्ष' को भी जीवन के चारों पुरुषार्थो मे अंतिम अनिवार्य और प्रयोजनीय स्थान दिया गया है। 'प्रसाद' ने मोक्ष के स्थान पर जीवन मुक्त की अवस्था (=जीवित रहते हुए भी मानव की 'एकतान' स्थिति) को अर्थात् लोकातीत आनन्द में मानव की देहसहित विचरणशील चिरन्तन स्थिति को प्रस्तुत किया है और फलतः प्राचीनो के मोक्ष-सदृश ही पुरुषार्थ-चतुष्टय का यह भी एक अंतिम—अनिवार्य और सक्रिय—अंग बन गया है, जिसके अभाव मे पुरुषार्थ निश्चय ही पूर्ण नही है अर्थात् आनन्द के अभाव में पुरुषार्थ का कुछ अर्थ ही नहीं है।

मनु देव-संस्कृति के महामानव है। इसीलिए 'अर्थ' अर्थात् ऐश्वर्य उनके व्यक्तित्व का जन्मजात गुण है। महाप्रलय से बचने के उपरान्त चित्त मे आशा का संचार होने पर वे देव-संस्कृति की वासनाओं के कारण यज्ञादि कर्मो के अनुष्ठान की ओर प्रेरित होते है। धर्म और अर्थ के साथ-साथ जब उन्हे 'काम' अर्थात् कामपुत्री कामायनी का आश्रय प्राप्त होता है, तब उनका पुरुषार्थ नई

सृष्टि के निर्माण की ओर उन्मुख होता है। काम-पुत्री कामायनी की सहायता से ही वे धर्म, अर्थ और 'काम' के साथ-साथ जीवन के अंतिम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष—जिसे शैवदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली मे अखण्ड आनन्द कहा गया है को प्राप्त करते है। 'काम' यहाँ केवल स्थूल प्रेम अथवा Sex का पर्याय नही है। 'काम' का अर्थ है जीवनेच्छा तथा 'सिसृक्षा'। 'काम' के स्थूल और सूक्ष्म—दोनों रूप कामायनी में यथास्थान अभिव्यंजित हुए है। 'काम' की स्थूल वासनाओं के कारण देव-संस्कृति का नाश हुआ और 'काम' अर्थात् श्रद्धा-विश्वासमयी अनुरक्ति के कारण 'मनु' अर्थात् 'मन' समरसता की स्थिति को प्राप्त करता है। इसका अर्थ यही है कि 'काम' की अतिशयता जहाँ विध्वंस का कारण है, वहाँ 'काम' का सूक्ष्म श्रद्धा-विश्वासमय रूप सृष्टि-विकास का मूल रहस्य भी है। 'काम' का यह श्रद्धा-विश्वासमय रूप ही मानव-पुरुषार्थ है। युग-युग का पुरुषार्थ जिसमें सृष्टि-विकास का बीज निहित है।

'कामायनीकार' ने मन में संचरित होने वाली 'चिन्ता', 'आशा', 'श्रद्धा', 'लज्जा', 'ईर्ष्या आदि नानाविध देशकालातीत कुछेक चिरन्तन भावनाओं को लेकर उनकी अनुभूति और विलक्षण क्रिया-प्रक्रिया की जो एक ऐन्द्रिय-अनुभावात्मक प्रतिक्रिया दर्शायी है, उसके मूल में अहम् और कर्म—पुरुषार्थ के इन दो मूलभूत तत्त्वों का अनिवार्य सन्निवेश होने के कारण वह केवल 'कामायनी' का ही सत्य नहीं रहा है, केवल काव्य का ही सत्य नही रहा है, कवि के कल्पनाप्रवण भाव-जगत् का ही सत्य नही है, अपितु वह अतीत, वर्तमान और भावी इस त्रैकालिक युग के मानव-मानव का सत्य बन गया है। अहम् भाव अस्मिता अर्थात् निजी अस्तित्व और उसके रक्षण-वर्द्धन की विश्व-व्यापी उद्दाम स्पृहा का प्रतीक है, किन्तु अपनी व्यष्ट्योन्मुख अवस्था में यह जितना ही संकुचित, समष्ट्योन्मुखी स्थिति मे उतना ही उदात्त और कल्याण-कर। एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं

यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व।''

× ×

'स्थिर मुदित, प्रतिष्ठा मैं वैसा चाहता नहीं इस जीवन की,

मै तो अबाध गति मरुत सदृश, हूँ चाह रहा अपने मन की,
जो चूम चला जाता अग-जग प्रति पग में कंपन की तरंग,
वह ज्वलनशील गतिमय पतंग ।

× × ×

"कुछ मेरा हो' यह राग-भाव संकुचित पूर्णता है अजान,
मानस जलनिधि का क्षुद्र यान ।'

यह स्थिति 'कर्म' की है। कर्म के उदात्त एवं अनुदात्त दोनो ही रूपों को कवि ने बडे कौशल के साथ प्रस्तुत कर दिया है। यहाँ यह ध्यान रहे कि कवि ने कर्म के अनुदात्त रूप को एकान्तत. त्याज्य नही माना है; और किसी भी प्राचीन भारतीय दर्शन ने नही माना है यहाँ तक कि बौद्ध और 'चार्वाक' दर्शन ने भी नही। माना भी नही जा सकता है, क्योकि वही तो सृष्टि का बीज है। अगर उसका एकान्त वर्जन हो जाय तो न मैं रहूँगा, न आप रहेंगे, न 'कामायनी' के अध्येता और जिज्ञासु पाठक—फिर तो कोई भी नहीं रहेगा, लेकिन ऐसा होगा नही—क्योकि ईश्वर बहुत दूरदर्शी और सर्वव्यापक है। सृष्टि के इस महत्त्वपूर्ण मूल का अधिकार उसने सामान्य मनुष्य को सौंपा ही नही है, वह उसके अपने हाथ में है। मनुष्य को तो उसमे केवल परिष्कार करने, उसकी विशुद्धता को कायम रखने और उससे भी पार निकल किसी अधिक उदात्त कर्म की ओर अग्रसर होने का अधिकार दिया है और कर्म के ये दोनो ही रूप एक समन्वित और संतुलित जीवन-यापन के लिए आवश्यक है—अर्थात् ये दोनो ही रूप सत्-पुरुषार्थ के मेरु-दण्ड है। इनमे से एक का भी अभाव होने पर, एक का भी विगलन होने पर—निश्चित् रूप से पुरुषार्थ स्खलित हो जाता है और पुरुषार्थ का स्खलन कामायनीकार को स्वीकार नही है। उदाहरणार्थ—

'कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द ।'

× × ×

'हम भूख प्यास से जाग उठे
आकांक्षा तृप्ति समन्वय में ।
रति काम बने उस रचना में

जो रही नित्य यौवन-वय में ।'

× × ×

'कर्म यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा ।'

× × ×

'मेरे विकल्प संकल्प बने जीवन हो कर्मों की पुकार
सुख साधन का हो खुला द्वार ।'

× × ×

'यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय ।'

कर्म और अहम् अर्थात् आत्मभाव की सृजन-हारिणी शक्ति (सहारिणी नहीं) ही मनुष्य का उसके अस्तित्व का उसके—पुरुषार्थ का मूलभूत आधार है, जिसे आधुनिक पाश्चात्य मनीषी डार्विन ने योग्यतमावशेष सिद्धांत (Survival of the fittest) के रूप मे प्रस्तुत किया है। 'प्रसाद' ने भी सारांश रूप मे एक स्थान पर इसी सत्य को स्पष्ट कर दिया है—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंगस्थल है।
है परंपरा लग रही यहाँ—
ठहरा जिसमें जितना बल है।

अतः सार रूप में इस प्रश्न का उत्तर यही है कि व्यष्ट्योन्मुख 'अहं' पर आवृत ज्ञान और भावना से समन्वित कर्म जीवन का—व्यक्ति का अर्थात् पुरुष का प्रेय पक्ष है तो उसी का लोक-कल्याण और लोक-सेवा के हितार्थ विश्व-व्यापी प्रसरण जीवन का श्रेय पक्ष है और दोनों की संतुलित सिद्धि में ही पुरुषार्थ की सार्थकता है। कामायनी के निम्नोद्धृत छन्द में यही बात बिल्कुल स्पष्ट है—

'यह जीवन उपयोग यही है बुद्धि साधना,
अपना जिसमें श्रेय यही सुख की आराधना,
लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में,
प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में।'

प्रश्न ५—'कामायनी' के रूपक-तत्त्व पर विचार कीजिए।

अथवा

'कामायनी का आख्यान इन । प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी मिश्रण हो गया है। इमलिए मनु श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तिव रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।' 'कामायनी' के रचयिता को अपने इस कथन में कहाँ तक सफलता मिली है ? युक्तियुक्त उत्तर लिखिए।

भारतीय साहित्य-शास्त्र की परम्परा में 'रूपक' शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे किया गया है। एक तो साम्यमूलक अलंकार-विशेष के अर्थ मे और दूसरे समस्त दृश्य-काव्य के अर्थ मे, जिसके अन्तर्गत नाटकादि दस भेद माने गये है। इन दोनो के अतिरिक्त 'रूपक' का एक तीसरा अर्थ भी है जोकि अंग्रेजी के 'एलिगरी' (Allegory) का पर्याय है। इस प्रकार के कथा-रूपक की विशेपता यह है कि इसमे द्व्यर्थक कथा होती है, जिसमे प्रत्यक्ष अर्थ के साथ-साथ अप्रत्यक्ष गूढार्थ भी ध्वनित होता है। भारतीय साहित्य-शास्त्र मे इस प्रकार की रचना को अन्योक्ति भी कहा गया है। 'शुक्ल' जी ने जायसी-प्र ीत 'पद्मावत्' के लिए 'रूपक' के स्थान पर 'अन्योक्ति' शब्द का ही प्रयोग किया है। वस्तुत: 'रूपक' के इस अर्थ मे रूपक अलकार और अन्योक्ति दोनो का ही समावेश है, क्योकि रूपक अलकार की भाँति कथा-रूपक मे भी एक कथा का दूसरी पर अभेद आरोप रहता है जिसमे कि एक कथा प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत होती है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार—'प्रस्तुत कथा स्थूल, भौतिक घटनामयी होती है और अप्रस्तुत कथा सूक्ष्म-सैद्धातिक होती है। यह सैद्धातिक कथा दार्शनिक, नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक आदि किसी प्रकार की भी हो सकती है, परन्तु इसका अस्तित्व मूर्त्त नही होता। वह प्राय: प्रस्तुत कथा का अन्य अर्थ ही होता है, जो उससे ध्वनित होता है।'[1]

एबरक्रोम्बी (Abercrombe) ने 'The Epic' मे रूपक-काव्य की विशेपताओ का उद्घाटन करते हुए कहा है कि इसका सृजन महाकाव्य के रूप मे न होकर महाकाव्य की-सी विशेषताओं को लेकर होता है, जिसके पात्र पूर्णतया निर्जीव तथा अमूर्त्त भावो के प्रतीक रूप मे होते है। उसमे सर्वत्र

१—कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ४१

आध्यात्मिक प्राधान्य के द्वारा जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण बातों की ओर निर्देश किया जाता है। डब्लू० पी० केर (W. P. Ker.) ने 'Medieval English Literature' में रूपक-काव्य की कतिपय अन्य विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए दो प्रकार के रूपक-काव्यों का उल्लेख किया है। एक तो वे रूपक-काव्य हैं जिनमें कि वास्तविक एवं सांकेतिक—दोनों अर्थ पृथक्-पृथक् होते हैं, जैसे वेस्टिअरी (Bestiary) काव्य और दूसरे वे काव्य हैं जिनमें कि सांकेतिक अर्थ पृथक् रूप से व्यंजित नहीं होता, जैसे—'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (Pilgrim's Progress)।

रूपक-काव्य के लिए निर्दिष्ट भारतीय एवं पाश्चात्य नियमों पर जब हम विवेच्य कृति का विश्लेषण करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि 'कामायनी' की प्रसिद्ध कथा ऐतिहासिक है और वह सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करती है। 'कामायनी' के आमुख में 'प्रसाद' जी ने, स्वयं इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा है—"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।"

"यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष—हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। .....इन सभी के आधार पर 'कामायनी' की सृष्टि हुई है।"

'कामायनी' की प्रस्तुत कथा मनु और श्रद्धा के संयोग से मानव-सृष्टि के विकास की प्रसिद्ध ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथा है। किन्तु इसकी अप्रस्तुत कथा मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक है जिसमें कि मनोमय कोश से आनन्दमय कोश तक, अहंकार की क्लेशमयी स्थिति से समरसता की आनन्दमयी स्थिति तक के जीव-विकास की व्यंजना है। इस कथा में तीन प्रधान पात्र हैं—श्रद्धा, मनु और इड़ा। इसके अतिरिक्त तीन गौण पात्र हैं—मनु-श्रद्धा का पुत्र कुमार तथा असुर पुरोहित किलात और आकुलि। इनके अतिरिक्त दो पात्र और भी हैं—काम और लज्जा जो कि अशरीरी हैं और मूलतः सांकेतिक अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं।

मनु मननशील, संकल्प-विकल्पयुक्त एवं अहं-भाव से आवेष्टित मन के प्रतीक है। प्रस्तुत कथा मे मनु महाप्रलय से ध्वंस हुई देव-संस्कृति के व्यक्ति है, किन्तु दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक अर्थ मे वे मनोमय कोश में स्थित जीव के प्रतीक है। सर्वप्रथम मनु संकल्प-विकल्पयुक्त चिंता-ग्रस्त रूप में हमारे सामने आते है। तदुपरान्त उनमे आशा की भावना जाग्रत होती है और श्रद्धा से उनका साक्षात्कार होता है। मनोविज्ञान के अनुसार आशा के उदय होने के पश्चात् ही मानव-हृदय मे श्रद्धा का उदय होता है। मन में अधिकाधिक काम-वासना की वृद्धि से जीव कर्म मे प्रवृत्त होता है और तब उसमे 'अहं' (Ego) की सृष्टि होती है। 'कामायनी' में मन अर्थात् चेतना (Consciousness) के प्रतीक रूप मे मनु का भी इसी रूप में चित्रण किया गया है—

(१) मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में।
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में।

(२) यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिये मुझे मेरा ममत्व;
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व।

जब मनुष्य की अंहमन्यता अत्यधिक बढ़ जाती है तो उसमें स्वभावतः ईर्ष्या का संचार होता है। यहाँ तक कि मनु (मन) भावी शिशु पर भी श्रद्धा के अनुराग को सहन नही कर पाते। वे एकाकी ही श्रद्धा के अनुराग का उपभोग करना चाहते है। अपनी इसी 'अहं' भावना की संतुष्टि के लिए वे परम विश्वासमयी श्रद्धा को छोड़कर इड़ा (बुद्धि) के निर्देशानुसार कार्य करते हैं। अपनी स्वाभाविक अधिकार भावना के कारण वे इड़ा पर भी अपना अधिकार करना चाहते है, जिसमें असफल होने के साथ-साथ वे क्षत-विक्षत भी हो जाते है और अन्त में श्रद्धा द्वारा उनका पुन. उद्धार होता है।

'कामायनी' की दूसरी प्रमुख पात्र श्रद्धा का उल्लेख ऋग्वेद, शतपथ तथा पुराणो मे मिलता है। ऋग्वेद में श्रद्धा और मनु दोनों का नाम ऋषियों की तरह मिलता है। श्रद्धा कामगोत्र की बालिका है, अतएव श्रद्धा नाम के साथ उसे कामायनी भी कहा जाता है। छान्दोग्योपनिषद् तथा त्रिपुरा-रहस्य में

श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या भी मिलती है। 'प्रसाद' जी ने उसे हृदय का प्रतीक मानते हुए - 'श्रद्धा हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु.'—उसके इसी रूप का चित्रण 'क़ामायनी' मे किया है—

हृदय कं. अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त।
मधु-पवन-क्रीड़ित ज्यों शिशु शाल
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।

उसके व्यक्तित्व मे नारी-सुलभ सभी उदात्त भावनाओं का समावेश है। वह करुणा, दया, ममता – हृदय के सभी कोमल गुणों की साक्षात मूर्ति है। काम, वासना, ईर्ष्या, द्वेष से युक्त मन के प्रतीक मनु द्वारा प्रवंचित होने पर भी वह उनको आनन्द-लोक तक ले जाती है। इसी कारण 'शुक्ल' जी ने उसे 'विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति' कहा है। परन्तु विश्वास एवं राग-वृत्ति का सम्वन्ध भी हृदय से होने के कारण वह हृदय की ही प्रतीक सिद्ध होती है। अगाध विश्वास एवं ममता से युक्त होने के कारण उसका संसर्ग शान्तिदायक है। महाप्रलय के पश्चात् हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर चिंताकुल बैठे हुए मनु उसे देखकर अनिर्वचनीय शान्ति का अनुभव करते है। 'कामायनी' में उनके इसी रूप का चित्रण अनेक स्थलों पर विस्तारपूर्वक हुआ है। काम और रति की पुत्री वह श्रद्धा संसृति में आई ही इसी उद्देश्य से थी कि प्रेमकला का संदेश सभी के हृदय तक पहुँचा सके—

यह लीला जिसकी विकस चली,
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला।
उसका संदेश सुनाने को
संसृति में आई वह अमला।

'कामायनी' की तीसरी प्रमुख पात्र इड़ा है। लौकिक संस्कृत में 'इडा' शब्द पृथ्वी अर्थात् बुद्धि, वाणी आदि का पर्यायवाची है। 'प्रसाद' जी ने उसे बुद्धि का प्रतीक मानते हुए उसके व्यक्तित्व का प्रतीकात्मक चित्रण किया है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल!
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखण्ड-सदृश था स्पष्ट भाल।
दो पद्म-पलाश-चषक-से दृग देते अनुराग-विराग ढाल।
गुंजरित मधुप से मुकुल-सदृश वह आनन जिसमें भरा गान,

वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा-जीवन-रस सार लिए,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये।
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल-
चरणों में थी गति भरी ताल!

इडा हृदय की उदात्त वृत्तियों से वंचित व्यवसायात्मिक बुद्धि है। उसके संसर्ग से मनु मे स्वार्थलिप्सा और एकाधिकार की भावना और अधिक विस्तार को प्राप्त करती है, जिसके कारण संघर्ष की सृष्टि होती है। श्रद्धा जहाँ मनुष्य को समरसता की ओर प्रेरित करती है, वहाँ इसके विपरीत इड़ा मनुष्य मे अभेद के स्थान पर भेद उत्पन्न करके उसे वर्ग-विभाजन की ओर ले जाती है। ऋग्वेद मे इडा को प्रजापति मनु की पथ-प्रदर्शिका और मनुष्यों का शासन करने वाली कहा गया है—'इडामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम्।' 'कामायनी' मे भी वह मनु अर्थात् मन का पथ-प्रदर्शन करती है—

इड़ा अग्नि-ज्वाला-सी आगे जलती है उल्लास भरी।
मनु का पथ आलोकित करती विपद नदी मे बनी तरी।

इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त गौण पात्रों मे श्रद्धा-मनु का पुत्र कुमार नव-मानव का प्रतीक है। उसके व्यक्तित्व का अधिक विकास 'कामायनी' में दृष्टिगोचर नही होता, यहाँ तक कि उसका नामकरण संस्कार तक भी न करके उसे केवल 'कुमार' नाम से ही अभिहित किया गया है। परन्तु यथार्थ रूप मे वही मानवता का प्रचार एव प्रसार करता है, क्योकि उसमे अपने पिता मनु की मननशीलता, माता श्रद्धा की उदात्त भावना तथा इड़ा की बुद्धिवादिता का उचित सामजस्य है। वस्तुत. मानव का पूर्ण विकास हो भी तभी सकता है, जबकि उसके व्यक्तित्व मे श्रद्धा एव विश्वास के साथ-साथ बुद्धि-तत्व का भी समावेश हो। इसीलिए मनु के साथ मानसरोवर की ओर जाते समय श्रद्धा अपने पुत्र 'कुमार' को इडा के सरक्षण में छोड़ जाती है—

"हे सौम्य! इडा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा-भार;
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय।
तू मननशील कर कर्म अभय॥
इसका तू सब संताप निचय

हर ले, हो मानव-भाग्य-उदय
सबकी समरसता कर प्रचार।
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार ।।

गौण पात्रों में आकुलि और किलात आसुरी वृत्तियो के प्रतीक है। मनु (मन) द्वारा हिंसायज्ञ की ओर आकृष्ट होते ही ये दोनों (आसुरी वृत्तियाँ) उसके सामने उपस्थित हो जाते है, जिनकी दुष्प्रेरणाओं के परिणामस्वरूप मनु में तामसी प्रवृत्तियों का बाहुल्य हो जाता है। अन्त मे जब मनु इड़ा पर अपना अधिकार करना चाहते है, तो ये भी मनु को छोडकर विद्रोही प्रजा के साथ जाकर मिल जाते है और विद्रोहियो के नेता बनकर सामने आते है। इसका साकेतिक अर्थ यह है कि आसुरी वृत्तियाँ पहले तो मन को नाना प्रकार के दुष्कर्म करने के लिए प्रेरित करती हैं और जब उसे अपने इन कर्मो के फलस्वरूप कष्ट भोगना पड़ता है, तो ये आसुरी वृत्तियाँ उलटे उसके कष्ट में और अधिक वृद्धि करती है।

इन प्रतीको के अतिरिक्त 'कामायनी' मे देवता इन्द्रियों के सांकेतिक अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। उनमे (इन्द्रियों मे) जब भोग-विलास की भावना अपनी चरम-सीमा का भी अतिक्रमण कर जाती है, तब महाप्रलय होती है, जिसमे सभी कुछ नष्ट हो जाता है। देवताओं की तृप्ति का अर्थ है इन्द्रियो की तृप्ति और उनके अबाध विलास से अभिप्राय है—इन्द्रियो का अबाध विलास—

अरी उपेक्षा-भरी अमरते
री अतृप्ति ! निर्बाध विलास।
द्विधा-रहित अपलक नयनों की
भूख-भरी दर्शन की प्यास !

श्रद्धा का पशु, जिसका वध असुर-पुरोहितो द्वारा कराया जाता है और जिसके नाम एव जाति का वर्णन 'कामायनी' मे नही है, सहज जीवदया और करुणा का प्रतीक है। आधुनिक अर्थ मे हम उसे गाधीवादी अहिंसा का द्योतक कह सकते है –

एक माया ! आ रहा था पशु अतिथि के साथ;
हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ।

भारतीय दर्शन-शास्त्र मे वृषभ अनादि काल से ही धर्म का प्रतीक माना गया है। 'प्रसाद' जी ने भी उसे इसी रूप मे ग्रहण किया है। 'कामायनी' में

सोमलता से आवृत्त वृषभ स्पष्ट रूप से भोगों से युक्त धर्म का प्रतीक है, जिसका उत्सर्ग करके मन अखण्ड आनन्द को प्राप्त करता है—

> था सोमलता से आवृत
>
> वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि ।

'कामायनी' मे वर्णित कतिपय ऐतिहासिक एवं पौराणिक घटनाएँ और तत्सम्बन्धी स्थान भी अपना सांकेतिक अर्थ रखते है। जल-प्लावन भारत के ही नही, अपितु समस्त पृथ्वी के इतिहास की अत्यन्त प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण घटना है। प्रत्येक देश के वाङ्मय में इसका किसी-न-किसी रूप में उल्लेख अवश्य मिलता है। भारतीय दर्शन-साहित्य में इसका प्रतीकार्थ भी ग्रहण किया गया है। जब मानव-मन काम-वासना से युक्त होकर इन्द्रियों की निर्बाध उपासना में लीन हो जाता है, अर्थात् जब वह निम्नतम अन्नमय कोश मे ही अत्यधिक रम जाता है, तब उस समय चेतना पूर्णरूपेण जल-माया से आच्छादित हो जाती है।

त्रिलोक की प्रेरणा कवि को त्रिपुर-दाह के प्राचीन आख्यान से प्राप्त हुई है। वह भावलोक, कर्मलोक और ज्ञानलोक अर्थात् भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति का प्रतीक है। इन तीनो के सामंजस्य से ही वास्तविक एवं अखंड आनन्द की उपलब्धि होती है। जब तक भाव, कर्म और ज्ञान—ये तीनों वृत्तियाँ पृथक्-पृथक् रहती हैं तब तक मन शांत एवं चितारहित नही हो पाता—

> **ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,**
>
> **इच्छा क्यों पूरी हो मन की,**
>
> **एक दूसरे से न मिल सके,**
>
> **यह विडम्बना है जीवन की।**

परन्तु जब हृदय की प्रतीक, विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति श्रद्धा द्वारा इन तीनों का समन्वय हो जाता है, तब मन समरसता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है—

> **स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,**
>
> **इच्छा क्रिया, ज्ञान मिल लय थे;**
>
> **दिव्य अनाहत पर निनाद में,**
>
> **श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।**

सारस्वत नगर प्राणमय कोश का प्रतीक है तथा उसके निवासी जो कि

मनु के सहयोगी होते हुए भी उसी के विरुद्ध विद्रोह कर देते है, मन की सहगामिनी अन्य इन्द्रियो के प्रतीक हैं। कैलाश-पर्वत आनंदमय कोश का प्रतीक है, जहाँ पहुँचकर मन पूर्ण आनन्द की प्राप्ति करता है। कैलाश-शिखर पर स्थित मानसरोवर के लिए 'कामायनी' मे 'मानस' शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ-ब्राह्मण में इसे मनोरवसर्पण कहा गया है – 'तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति'। यह 'मानसरोवर' या 'मानस' 'कामायनी' मे समरसता की अवस्था का प्रतीक है।

'कामायनी' के पात्रों, घटनाओं एवं स्थानो के प्रतीकार्थ पर विचार करने के उपरान्त अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कवि विवेच्य कृति मे इन सांकेतिक अर्थो की अभिव्यक्ति मे किस सीमा तक सफल हुआ है। 'कामायनी' की प्रस्तुत कथा महाप्रलय के उपरान्त हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठे हुए चिन्ताग्रस्त मनु के चित्रण से प्रारम्भ होती है। श्रद्धा का सान्निध्य प्राप्त करके वे शांत-चित्त हो जाते हैं और जीवन के प्रति उनमें आकर्षण उत्पन्न होता है। श्रद्धा उनकी वृत्तियो का सस्कार एव परिष्कार करती है। तदुपरान्त जब उनमे ईर्ष्या, द्वेष की भावना का आधिक्य हो जाता है, तो वे श्रद्धा को छोड़कर चले जाते है और सारस्वत नगर में पहुँच कर इड़ा के निर्देशानुसार कार्य करते है। परन्तु अपनी स्वाभाविक एकाधिकार की भावना के कारण वे इड़ा पर भी अपना अधिकार करना चाहते है, जिससे उत्तेजित होकर प्रजा विद्रोह कर देती है और मनु इस संघर्ष में पराजित हो जाते हैं। इससे उनमे निर्वेद का संचार हो जाता है। इसी समय श्रद्धा पुनः मनु से आकर मिल जाती है और उन्हे कैलाश-शिखर पर ले जाती है।

'कामायनी' की उपर्युक्त प्रस्तुत कथा के साथ अप्रस्तुत दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक कथा भी आदि से अन्त तक गुम्फित है। तैत्तिरीयोपनिषद् मे आध्यात्मिक साधना के लिए अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय इन पाँच कोशों की कल्पना की गई है। अन्नमय कोश में स्थित जीव द्वारा सतत उन्नति करते हुए आनन्दमय कोश तक पहुँचने की कथा 'कामायनी' की अप्रस्तुत कथा है। निम्नतम अन्नमय कोश मे स्थित जीव व्यथित एवं बेचैन रहता है। अहं का आधिक्य होने के कारण वह स्वयं अपना मार्ग निश्चित नही कर पाता। इसी समय उसका सम्बन्ध हृदय की विश्वासमयी रागात्मिका-वृत्ति श्रद्धा से होता है। उसके संसर्ग से जीव के अहं का

समार्जन होता है। वह 'स्व' की सीमाओं का अतिक्रमण करके 'पर' की सीमाओं मे प्रवेश करता है। चेतन जीव की दो शक्तियाँ मानी गई हैं—हृदय और बुद्धि। हृदय-तत्त्व उसे कर्मण्यता द्वारा उन्नति करने के लिए प्रेरित करता है, किन्तु इसी समय सोमलता आदि भोगों के प्रभाव से वह जीव आसुरी वृत्तियो के वश मे हो जाता है और हिंसायुक्त वासना-प्रधान जीवन की ओर आकृष्ट होता है। श्रद्धा यथासम्भव इसका विरोध करती है। परन्तु उसकी आकांक्षाओं में प्रतिदिन वृद्धि होती जाती है और परिणामस्वरूप उसमे ईर्ष्या की भावना जाग्रत होती है—

मेरा सुन्दर विश्राम बना
सृजता हो मधुमय विश्व एक;
जिसमें बहती हो मधु धारा
लहरें उठती हों एक-एक।
× × ×
यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार !
केवल मेरी ही चिंता का
तव चित्त वहन कर रहे भार !

इसी ईर्ष्या-भावना से आक्रांत होकर अपने अहं की तुष्टि के लिए जीव श्रद्धा का परित्याग कर नीचे प्राणमय कोश मे पहुँचकर बुद्धि के चक्र में पड़ जाता है। बुद्धि उसे भौतिक जीवन की ओर बढ़ने के लि प्रेरित करती है—

हाँ तुम ही हो अपने हाय।
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय ?
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय।
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य-भरी शोधक-विहीन,
तुम उसका पट खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन,
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता,
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता।
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञा सहज स धन उपाय
श अखिल लोक में रहे छाय।"

मनु द्वारा श्रद्धा को छोड़कर चले जाने का प्रतीकार्थ है मन का, श्रद्धा-

विश्वास से वंचित हो जाना और जब मन श्रद्धा-विश्वास का आश्रय छोड देता है, तब उसे नाना प्रकार के क्लेश सहन करने पडते है। बुद्धि जीव को निरन्तर संघर्ष की प्रेरणा तो देती है, परन्तु सुख प्रदान नही कर सकती। उसके द्वारा मन के अहं का संस्कार नही होता, वरन् वह और भी अधिक उत्तेजित हो जाता है। अहं की इसी उत्तेजना के कारण वह बुद्धि पर भी एकाधिकार करना चाहता है, जिसमे वह पराजित होता है और एक प्रकार की मानसिक प्रलय हो जाती है। इसी समय उसका पुनः श्रद्धा से सम्पर्क होता है। श्रद्धा की प्रेरणा से उसे ज्ञात होता है कि जीवन की तीन मूल वृत्तियो भाव-वृत्ति, ज्ञान-वृत्ति और कर्म-वृत्ति (to feel, to know, to will) मे सामंजस्य का अभाव ही उसके पराभव का मूल कारण है। श्रद्धा के द्वारा इन तीनों का सामंजस्य होते ही, मन समरसता की अवस्था को प्राप्त कर अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है।

'कामायनी' मे इडा, कुमार और सारस्वत प्रदेशवासियों की भी मानसरोवर यात्रा का वर्णन है, जहाँ वे सोम-लता से मंडित वृषभ का उत्सर्ग कर मनु से सामरस्य की दीक्षा ग्रहण करते है। इसका साकेतिक अर्थ यह है कि समष्टि रूप में भी मानव-जीवन भोगो से युक्त धर्म का उत्सर्ग करके पूर्ण आनन्द की प्राप्ति कर सकता है।

इस प्रकार हम देखते है कि 'कामायनी' मे आदि से अन्त तक रूपक का सफलतापूर्वक निर्वाह किया गया है। किन्तु फिर भी कतिपय स्थलों पर उसमे कुछ दोष उत्पन्न हो गये है। पहली असंगति श्रद्धा-मनु के पुत्र कुमार के प्रतीकार्थ से सम्बन्धित है। कुमार को नव मानव का प्रतीक मानने पर, मनु एवं कुमार के प्रतीकार्थ की पुनरावृत्ति हो जाती है। सम्भवतः 'प्रसाद' जी ने भी इस असंगति का अनुभव किया था, इसीलिए मनु के साथ मानसरोवर की ओर जाते समय श्रद्धा कुमार को इडा के संरक्षण मे छोड़ जाती है।

कतिपय आलोचक इडा को बुद्धि के प्रतीक रूप मे ग्रहण करने का विरोध करते हैं। उनके अभिमतानुसार मनुष्य बुद्धि के आधार पर ही यश एवं वैभव को प्राप्त करता है और मनु भी उसी के निर्देशानुसार कार्य करके उन्नति करते है फिर 'कामायनी' में उसकी ऐसी विगर्हणा कहाँ तक उपयुक्त है। नन्ददुलारे वाजपेयी का इस सम्बन्ध में मत है कि 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' मे कहीं भी बुद्धि का विरोध नहीं किया है। वे तो केवल बुद्धिवाद की अति का

विरोध करते है।

इनके अतिरिक्त आचार्य 'शुक्ल' ने भी इड़ा और श्रद्धा सम्बन्धी दो तात्त्विक असंगतियों की ओर संकेत किया है। उनका मत है कि जब इड़ा की प्रेरणा से ही मनु कर्म करते है, अर्थात् जब बुद्धि ही कर्म-व्यापार का कारण है, तो ज्ञान-लोक से पृथक् कर्म-लोक की सत्ता कैसे सम्भव है। श्रद्धा के सम्बन्ध में उनका मत है कि दया, ममता आदि की समानार्थी होने के कारण उसका अस्तित्व एकान्त भावात्मक है। ऐसी परिस्थिति में उसकी स्थिति भाव-लोक से ही नहीं, वरन् भाव, कर्म और ज्ञान इन तीनों से पृथक् कैसे हो सकती है ?

डॉ० नगेन्द्र ने शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त असंगतियो का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'मानव-मन इतना जटिल है कि उसकी सभी वृत्तियाँ परस्पर अनुस्यूत और गुम्फित है, फिर भी दर्शन तथा मनोविज्ञान में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का भेद तो सर्वथा स्वीकृत है ही। भारतीय दर्शन में भक्ति, ज्ञान और कर्म-मार्ग का पृथक् विवेचन प्रायः आरम्भ से ही होता आया है। इसलिए कर्म के पीछे बुद्धि की प्रेरणा होने का यह अभिप्राय नहीं है कि इन दोनो में कोई तत्त्वगत पार्थक्य ही नही है।'[१]

डॉ० नगेन्द्र ने शुक्लजी की श्रद्धा-विषयक आपत्ति का भी निराकरण प्रस्तुत किया है। उनके अभिमतानुसार श्रद्धा का अर्थ है—आस्तिक बुद्धि (भावना) आस्तिकबुद्धि. इति श्रद्धा—अर्थात् जीवन में सहज आस्था—जो कि राग-प्रधान होती है। परन्तु तत्त्व-रूप मे श्रद्धा मे केवल भावुकता ही नही है; आस्तिक बुद्धि की पर्याय होने के कारण उसमे अस्तित्व की तीनो अभि-व्यक्तियो—इच्छा, ज्ञान, क्रिया की स्थिति है। इसके विपरीत भाव-लोक कोरी भावुकता-इच्छा की रंगीन क्रीड़ाओं का प्रतीक है। मनोविश्लेषण-शास्त्र के अनुसार श्रद्धा की स्थिति वही है जो युंग-प्रतिपादित जीवन-चेतना की, जिसे कि उन्होने जीवन की मूलभूत वृत्ति माना है।'[२]

'कामायनी' के कथानक को दृष्टि मे रखते हुए जब हम शुक्लजी की श्रद्धा-विषयक आपत्ति का विवेचन करते है तो हमें ज्ञात होता है कि कथा-प्रवाह की दृष्टि से भी 'प्रसाद' जी के लिए यह आवश्यक था कि वे श्रद्धा

१—कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ५२
२—कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ - डॉ० नगेन्द्र, पृ० ५३-५४

का अस्तित्व भाव, कर्म और ज्ञान इन तीनों से पृथक् स्वीकार करते। 'कामायनी' की कथा का प्रमुख कार्य है जीवन की तीनो वृत्तियो मे समन्वय की स्थापना, जिसके उपरान्त मन सामरस्य की अवस्था को प्राप्त कर आनन्द अनुभव करता है। वास्तुकौशल की दृष्टि से यह कार्य मुख्य पात्र श्रद्धा के द्वारा ही सम्पन्न होना अधिक समीचीन था। इसीलिए मनोविज्ञान एवं वास्तु-कौशल की दृष्टि से श्रद्धा की सत्ता इन तीनो—भाव, कर्म एवं ज्ञान से पृथक् स्वीकार की गई है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि 'कामायनी' का प्रणयन करते समय कवि के हृदय मे 'मन' के विकास का प्राचीन वैदिक रूपक आदि से अन्त तक विद्यमान था। विवेच्य कृति के सभी पात्र, घटनाएँ एवं स्थान प्रतीकार्थ को ग्रहण किये हुए है। प्रस्तुत कथा के साथ-साथ अप्रस्तुत सैद्धान्तिक कथा की भी संयोजना है। सामान्यतः प्रारम्भ से अन्त तक साकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति पूर्णतया स्पष्ट है, किन्तु जहाँ कही भी कथा के सूक्ष्म अवयवों मे वह अस्पष्ट है वहाँ उसका कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पात्रो के चरित्र-विकास अथवा वास्तु-कौशल की दृष्टि से कथा-प्रवाह की रक्षा करना है।

प्रश्न ६—कामायनी के दार्शनिक तत्त्व का विश्लेषण कीजिए।

अथवा

"कामायनी में काव्य और दर्शन के संयोग का परम विकास मिलता है। काव्य की भावुकता से 'प्रसाद' जी जीवन की रागात्मक वृत्तियों को चेतना देते हैं और दर्शन से जीवन के राग-विरागों को समझने और सुलझाने की शक्ति।" उक्त कथन की विशद व्याख्या कीजिए।

उत्तर—'कामायनी' एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। मनु, श्रद्धा तथा इड़ा की यत्र-तत्र पुराणों एवं उपनिषदों में असम्बद्ध रूप से बिखरी हुई कथाओं का संकलन करके 'प्रसाद' जी ने दर्शन एवं मनोविज्ञान के आधार पर 'कामायनी' की रचना की है। 'कामायनी' की अधिकांश घटनाओं का विस्तार भौतिक जगत् में लक्षित नही होता। उनका क्षेत्र ब्रह्माण्ड नही है, वरन् पिण्ड है। वे मानव-आत्मा या मानव-चेतना के भीतर घटित होती है। मनु और श्रद्धा की ऐतिहासिक कथा के माध्यम से 'प्रसाद' जी ने दार्शनिक आधार पर मानव चेतना के मनोवैज्ञानिक विकास को चित्रित किया है। उनके मतानुसार मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की

"समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखड घना था।"

'प्रसादजी' ने इच्छा, कर्म और ज्ञान का स्वरूप-प्रतिपादन पुराणों एवं उपनिषदों में उपलब्ध त्रिपुर की कथा के आधार पर किया है। शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध कथा के अनुसार देवताओं की उपासना से प्रसन्न होकर 'उपसद' नामक अग्नि ने असुरों द्वारा पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं द्यु लोक में निर्मित तीन पुरों का नाश किया। महाभारत, शिवपुराण, लिंगपुराण तथा मत्स्यपुराण आदि में शिव के द्वारा इन तीन पुरो के विध्वंस किये जाने का उल्लेख मिलता है। तंत्रालोक मे इच्छा, ज्ञान और क्रिया त्रिपुर के तीन कोण माने गए है। इनमें से इच्छा-शक्ति सृष्टि की कामना तथा विविध कर्मो में लीन होने की प्रेरणा प्रदान करती है। ज्ञान-शक्ति दो प्रकार की मानी गई है—ज्ञेयाधिक्य और ज्ञेयानधिक्य। ज्ञेयाधिक्य ज्ञान-शक्ति के द्वारा अपूर्णता का आभास होता है तथा ज्ञेयानधिक्य शक्ति शुद्धाशुद्ध मार्ग का बोध कराती है। क्रियाशक्ति में सभी शक्तियों का पारस्परिक संघट्टन-वैचित्र्य होता है। इन तीनों का पार्थक्य उपाधिरूप संसार को प्रकट करता है तथा इनका समन्वय आनन्दरूप मे परिणत हो जाता है। शैवागमों मे उपलब्ध त्रिपुर के इसी रूप के आधार पर 'प्रसाद' जी ने 'रहस्य' सर्ग में भावलोक, कर्मलोक और ज्ञानलोक की कल्पना की है—

इच्छा—"वह देखो रागारुण है जो, ऊषा के कन्दुक-सा सुन्दर।
छायामय कमनीय कलेवर, भावमयी प्रतिमा का मंदिर॥
यह जीवन की मध्यभूमि है, रस-धारा से सिंचित होती;
मधुर लालसा की लहरों से, यह प्रवाहिका स्पंदित होती।"

कर्म—"मनु यह श्यामल कर्मलोक है,
धुँधला कुछ-कुछ अंधकार सा;
सघन हो रहा, अविज्ञात यह,
देश मलिन है धूम-धार-सा।"

ज्ञान—"प्रियतम यह तो ज्ञानक्षेत्र है,
सुख-दुख से है उदासीनता;

यहाँ न्याय निर्मम चलता है,
बुद्धि-चक्र जिसमें न दीनता।"

'कामायनी' में इन तीनों का समन्वय श्रद्धा के द्वारा दिखाया गया है। वेद, उपनिषद् एवं शैवागमों में श्रद्धा को ही आधारभूत शक्ति के रूप में-स्वीकार किया गया है—'श्रद्धाहि जगता धात्री, श्रद्धाहि सर्वस्य जीवनम्' तथा उसके विना जगत् की स्थिति असम्भव मानी गई है—'श्रद्धा वैधूर्य योगेन विनश्येज्जगता स्थिति।' ऋग्वेद मे श्रद्धा को अभीष्ट फलदात्री तथा समस्त वैभव की अधिष्ठात्री कहा गया है—

"श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसुः॥"

तंत्रालोक मे इच्छा, ज्ञान और क्रिया की अधिष्ठात्री त्रिपुरादेवी मानी गई है और उसे ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव रूप कहा गया है। 'त्रिपुरो रहस्य' में श्रद्धा को ही त्रिपुरादेवी कहा गया है, जो अपनी शक्ति के द्वारा त्रिपुरा में समन्वय स्थापित करती है। इड़ा व्यवसायात्मिका वृत्ति है, जो मनुष्य को तर्क-वितर्क में उलझाकर आनन्द-प्राप्ति में वाधा उत्पन्न करती है। ऋग्वेद मे इड़ा को वौद्धिक ज्ञान का प्रतीक कहा गया है। 'प्रसादजी' के मतानुसार 'इड़ा' का वुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के वीच व्यवधान वनाने में सहायक होता है फिर वुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज मे, दुःख मिलना स्वाभाविक है। वस्तुतः श्रद्धाहीन वुद्धि मनुष्य के मन को उत्तेजित तो कर सकती है, किन्तु उसे परितुष्ट नही कर सकती। उसके प्रभाव से हृदय-पक्ष गौण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप क्लेश, सताप और संघर्ष की सृष्टि होती है—

"सिर चढ़ी रही! पाया न हृदय;
तू विकल कर रही है अभिनय;

यद्यपि वुद्धि के प्रभाव मे आकर मनुष्य केवल भौतिकता मे ही लीन हो जाता है; उसका सर्वांगीण विकास नही हो पाता, किन्तु फिर भी उसका अपना महत्व है। वह सर्वथा त्याज्य नही है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के मतानुसार 'उसका अपना एक विशेष प्रयोजन है और वह यह कि उसके द्वारा राग को परिपक्वता प्राप्त होती है। उसके संसर्ग से श्रद्धा दृढ होती है। राग को लक्ष्य के प्रति प्रेषणीय वनाने मे वुद्धि का विपुल प्रयोजन है, अतः यह

कहना अनुचित न होगा कि बुद्धि नियंत्रित श्रद्धा के द्वारा ही मन समरसता की स्थिति को प्राप्त होता है। श्रद्धा और बुद्धि का यह सामरस्य ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान में अभिन्नत्व की सृष्टि करके मन को अखण्ड आनन्द की दशा में पहुँचाने का साधन है।"[1]

'कामायनी' में समरसता के जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है, उसका मुख्य आधार प्रत्यभिज्ञादर्शन है। नेत्रतंत्र में समरसता की स्थिति का विवेचन करते हुए कहा गया है कि—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं ध्याता न विद्यते ।
आनन्दपदसंलीनं मनः समरसीगतम् ॥

श्री उत्पलदेव के अनुसार प्रत्येक पदार्थ का परमेश्वर के स्पर्श-रस में अगंठित या अभिन्न हो जाना समरसता कहलाता है—"भावानामेकस्य निर्वाणेऽपि परमेश्वरस्पर्शरसो संचित एवेति सामरस्यम्।" अभिनवगुप्त के मतानुसार आनन्द शक्ति में विश्रांति पाने पर योगी सामरस्य की अवस्था को प्राप्त होता है और उस समय उसके मन में द्वैत की भावना पूर्णतया समाप्त हो जाती है- 'आनन्दशक्ति विश्रान्ते योगी समरसो भवेत।' 'चित्ते समरसी भूते द्वयोरीन्गनसी स्थितिः।' 'बोधसार' में श्री नरहरि स्वामी ने सामरस्य की अवस्था में प्राप्त आनन्द का विवेचन करते हुए कहा है कि—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
मित्रयोरिव दाम्पत्यो र्जीवात्मपरमात्मनोः ॥

'प्रसादजी' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने शैवदर्शन के प्रतिपादित समरसता के सिद्धान्त को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। कवि का दृष्टिकोण केवल आध्यात्मिक समरसता तक ही सीमित नहीं है। उन्होंने जीवन के सभी क्षेत्रों में सामरस्य की स्थापना पर बल दिया है। जहाँ उन्होंने गृहस्थ जीवन में नारी और पुरुष की समरसता पर बल दिया है, वहाँ उन्होंने व्यक्ति और समाज के मध्य भी सामरस्य की स्थापना पर विशेष आग्रह प्रकट किया है। इसके अतिरिक्त 'प्रसादजी' ने बुद्धिवाद के साथ श्रद्धा के समन्वय पर भी बल दिया है; क्योंकि केवल बुद्धि के प्रभाव से सामाजिक संघर्ष एवं विनाश की सृष्टि होती है। वास्तविक उन्नति तभी सम्भव है जब कि बुद्धि

१—कामायनी-दर्शन, पृ० १११

एवं हृदय में पूर्ण सामंजस्य हो। इसीलिए श्रद्धा कुमार को उपदेश देते हुए कहती है—

यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय,
तू मननशील, कर कर्म अभय;
... ...
सबकी समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत! सुन माँ की पुकार।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'कामायनी' का मूल प्रतिपाद्य सामरस्य की अवस्था में प्राप्त आनन्द की स्थापना है, जिसका प्रमुख आधार प्रत्यभिज्ञादर्शन है, जो कि सम्पूर्ण संसार को शिव से युक्त आनंदमय मानता है। 'कामायनी' में कहीं-कहीं मनु की जो दुःखमूलक उक्तियाँ मिलती हैं[1] वे सभी मन की पाशव अवस्था में कही गई हैं, जबकि जीव नाना प्रकार के मलों एवं कंचुकों से आवेष्टित होता है। डॉ॰ नगेन्द्र के अनुसार "यह कामायनी का पूर्वपक्ष है, सिद्धांत-पक्ष नहीं। ये उक्तियाँ मन की आवृत अवस्था—पाशव अवस्था की द्योतक हैं, शुद्धावस्था की नहीं। अतः अन्वय-व्यतिरेक से ये आनन्दवाद की प्रतिष्ठा में ही सहायक हैं, क्योंकि दुःख की यह स्वीकृति सामरस्य के अभाव और विपन्नता से प्रेरित हैं।"

आत्मा का स्वरूप

'प्रसादजी' ने आत्मा को चैतन्य रूप माना है और उसे चिति, महाचिति, चेतनता आदि शब्दों से अभिहित किया है। उसी से इस विश्व का उन्मीलन होता है। वह चिर-सौन्दर्य से युक्त, सत्य एव मंगलमय है—

(क) कर रही लीलामय आनन्द,
'महाचिति' सजग हुई-सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
इसी में सब होते अनुरक्त।

---

१. (क) विस्मृति आ, अवसाद घेर ले,
नीरवते बस चुप, कर दे।
(ख) मृत्यु, अरी! चिर निद्रे!
तेरा अंक हिमानी-सा शीतल।

(ख) 'चिति' का विराट् वपु मंगल
यह सत्य, सतत, चिर सुन्दर !
(ग) 'चेतनता' एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था ।

शैव-दर्शन मे भी आत्मा को चैतन्यस्वरूप मानते हुए उसे परमधाम, परमपद, परमवीर्य, परमामृत, परमतेज, परमज्योति कहा गया है । प्रत्यभिज्ञा हृदयम् में इसके सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह ये पांच कार्य माने गये है । शैवागमों मे इसे 'शक्ति' भी कहा गया है, जो कि परमात्मा या परमशिव से पूर्णतया अभिन्न है तथा जिससे सृष्टि का विकास होता है । यह अपनी इच्छा से अपनी भित्ति पर ही विश्व का उन्मीलन करती है—"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" (प्रत्यभिज्ञा हृदयम्) । शिव से अभिन्न इस चिद्-शक्ति के पांच रूप प्रमुख है—प्रकाशरूपा (चित्-शक्ति), स्वातन्त्र्य-शक्ति (आनन्द-शक्ति), तच्चमत्कार (इच्छा-शक्ति), आमर्शात्मिकता (ज्ञान-शक्ति) और सर्वाकार योगित्व (क्रिया-शक्ति) । बोधसार में शिव और शक्ति की कल्पना आनन्द-सागर और उसकी तरंगावली के रूप में की गई है—'आनन्द सागरः शम्भुः तच्छक्तिर्द्रव उच्यते ।' सामरस्य की अवस्था में मनु इसी स्वप्रकाशानन्द शिव-रूप आत्मतत्त्व की प्राप्ति करते है—

चिरमिलित प्रकृति से पुलकित,
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति-तरंगायित था
आनन्द-अम्बु-निधि शोभन ।

जीव

विवेच्य कृति में जीव के प्रतीक रूप मे मनु का चित्रण किया गया है । प्रलय के कारण वे चिंताग्रस्त दिखाई देते हैं । वासना, ईर्ष्या, अहंकार एवं अधिकार भावना के कारण वे सदैव पूर्ण आनन्द से वंचित रहते हैं । मलों एवं कंचुकों से आवेष्टित होने के कारण जीव की शक्ति संकुचित हो जाती है, जिसके फलस्वरूप वह सदैव अशांत रहता है—

संकुचित असीम अमोघ शक्ति
जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति ।

या कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी-सी महाशक्ति।
व्यापकता नियति-प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बन्द,
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बनकर कुछ रचे छन्द
कर्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया-सी ललित-कला,
नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरंतर चले ढला।

'इड़ा' सर्ग की उपरोक्त पंक्तियों मे काम के अभिशाप रूप में जीव को प्रभावित करने वाले जिन तत्त्वो का उल्लेख हुआ है, उनका विस्तृत विवेचन शैव-ग्रन्थों मे मिलता है। जब आत्मा तीन मलों और छह कंचुकों से परि-वेष्टित होती है, तब इसे जीव कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में इन मलों (अथवा पाशों) से आवृत आत्मा की इस बद्धावस्था को पशुस्थिति और जीव को 'पशु' भी कहा गया है। तंत्रालोक मे पाशों से आबद्ध जीव की मुक्ति के लिए शाम्भव, शाक्त और आणव — ये तीन उपाय माने गये है। इसके अति-रिक्त जीव की पांच अवस्थाएँ मानी गई हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुर्यातीत। इन पांच अवस्थाओं में से अंतिम तुर्यातीत अवस्था पूर्ण सिद्धि की अवस्था है, जिसमें जीव परमपद की प्राप्ति करता है। इस अवस्था से आगे और कोई अवस्था नहीं होती, इसलिए इसे 'अनुत्तरावस्था' भी कहा गया है। तंत्रालोक मे जीव की इस अवस्था को 'महाप्रचयावस्था' भी कहा गया है, जिसमें पहुँच कर जीव निष्प्रपंच, निराभास, शुद्ध एवं सर्वातीत होकर शिवत्व की प्राप्ति करता है।

'कामायनी' के पूर्वार्ध में मनु अथवा जीव की बद्धावस्था को अंकित किया गया है – निर्वेद-सर्ग तक उसकी आणवस्थिति का चित्रण है, जबकि उसमें भेद-बुद्धि प्रमुख होती है। निर्वेद से रहस्य सर्ग तक उसकी शाक्त स्थिति का वर्णन है, जब कि उसमे भेद और अभेद दोनो का प्राधान्य होता है। इसके पश्चात् मनु (जीव) शाम्भव स्थिति में पहुँचते है जब कि केवल अभेद भावना रह जाती है, जहाँ वे जीव की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं को प्राप्त करके तुरीयावस्था को प्राप्त करते हैं। विवेच्य कृति के अन्त में उनकी तुरीयातीत अवस्था का चित्रण किया गया है, जब कि वे पूर्ण शिवत्व को प्राप्त करते हैं और उन्हें अखण्ड आनन्द की अनुभूति होती है।

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धे, वह भी कुछ है ।
दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सब कुछ है ।

परिवर्तनवाद

इसके अतिरिक्त आधुनिक युग की वैज्ञानिक विचारधाराओं की भी अभिव्यक्ति 'कामायनी' में हुई है। सृष्टि मे प्रतिपल होने वाले परिवर्तन की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि यह सृष्टि निरन्तर परिवर्तनशील है। यहाँ सूर्य, चन्द्र और तारे भी अपना रूप बदलते रहते है। कभी पृथ्वी सागर बन जाती है, तो कभी सागर मरुभूमि मे बदल जाता है और जलधि मे ज्वाला जलने लगती है। सभी के अन्दर एक प्रकार की तरल अग्नि प्रवाहित हो रही है, जिससे पर्वत भी गल-गल कर सरिता के रूप में बहते दिखाई देते हैं—

विश्व एक बन्धन विहीन परिवर्तन तो है,
इसकी गति में रवि-शशि-तारे ये सब जो हैं—
रूप बदलते रहते, वसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती ।
तरल अग्नि की दौड़ लगी है सबके भीतर,
गलकर बहते हिम-नग सरिता लीला रचकर
यह स्फूलिंग का नृत्य एक पल आया बीता ।
टिकने को कब मिला किसी को यहाँ सुभीता ?

परमाणुवाद

'कामायनी' में परमाणुवाद की ओर भी संकेत मिलता है, जिसके अनुसार इस सृष्टि का विकास विभिन्न परमाणुओ के परस्पर संयोग से हुआ है। न्याय-वैशेषिक-दर्शन के अनुसार विभिन्न अणुओ के परस्पर संयोग से क्रमशः स्थूलतर एवं स्थूलतम पदार्थ उत्पन्न होते गये और इसी क्रम से अन्त मे पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु आदि की उत्पत्ति हुई। 'कामायनी' में इसी परमाणुवाद की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भिक काल मे एक

रूपाकारहीन विराट् कुहामण्डल था और फिर क्रमशः विद्युत्कण और परमाणुओं के संश्लेषण के द्वारा प्रकृति के नाना रूपों की सृष्टि हुई। किन्तु 'प्रसाद' ने समस्त ध्वंसित एवं विश्लेषित पदार्थों के पुनः संश्लिष्ट होने का कारण उस मूल शक्ति को माना है, जिसके द्वारा आलस्य का त्याग होते ही सभी अणु-परमाणु एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और उनके परस्पर संयोग से सृष्टि की रचना होती है—

वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई,
अपने आलस का त्याग किये,
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े
जिसका सुन्दर अनुराग लिये।
कुंकुम का चूर्ण उड़ाते-से
मिलने को गले ललकते से,
अंतरिक्ष के मधु-उत्सव के
विद्युत्कण मिले झलकते से।

अन्य विचारधाराएँ

'कामायनी' की सैद्धान्तिक विचारधारा पर डार्विन के 'विकासवाद' का भी प्रभाव पड़ा है। 'प्रसाद'जी ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के द्वारा विकासवाद के आधार पर मानव-मन के विकास के साथ-साथ मानव-सभ्यता के विकास को भी व्यंजित किया है। विकासवाद के इस व्यापक प्रभाव के कारण ही पंतजी ने 'कामायनी' के प्रति आक्षेप करते हुए कहा है कि—'वह केवल आधुनिक युग के विकासवाद से काल्पनिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेरणा ग्रहण कर तथा अध्यात्म की दृष्टि से वही फिर प्राचीन व्यक्तिवादी विकसित एवं समरस नित्य आनन्द चैतन्य का आरोहण मूलक आदर्श उपस्थित कर भारतीय पुनर्जागरण के काव्य-युग की अन्तिम स्वर्णिम परिच्छेद की तरह समाप्त हो जाती है।'

सारस्वत नगर की व्यवस्था के अन्तर्गत प्रसादजी ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' (Dialectical Materialism) की ओर भी संकेत किया है, किन्तु उसका व्यापक समर्थन नहीं किया। क्योंकि यह सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष का पोषक है और प्रसादजी व्यष्टि और समष्टि के स्तर पर 'समरसता' के

समर्थक है। और फिर केवल भौतिक उन्नति से मनुष्य सुख-सुविधाएँ तो प्राप्त कर सकता है, आत्मिक शांति नहीं। भौतिकता की अतिशयता तो कभी-कभी विनाश का कारण भी बन जाती है। देव-संस्कृति का नाश भी भौतिकता के अबाध-विलास के कारण हुआ था। इड़ा की प्रेरणानुसार मनु द्वारा विकसित सारस्वत प्रदेश में भी इसीलिए विप्लव हुआ, क्योंकि उनकी उन्नति एकांगी थी। वास्तविक उन्नति तो तभी संभव है जबकि जीवन में भौतिकता के साथ-साथ मनुष्य को श्रद्धा-विश्वास का संबल भी प्राप्त हो। इसीलिए प्रसादजी ने सारस्वत प्रदेश के निवासियों के भी कैलाश शिखर तक पहुँचने और वहाँ अखण्ड आनन्दानुभूति मे लीन होने का वर्णन किया है। इस प्रकार प्रसादजी ने 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' के महत्त्व की ओर संकेत करते हुए भी उसकी अपूर्णता प्रदर्शित कर प्रकारान्तर से कामायनी के मूल प्रतिपाद्य 'समरता' के सिद्धान्त को परिपुष्ट किया है।

कामायनी में एक-दो स्थलो पर 'प्रतिस्पर्धावाद' और 'योग्यतमावशेष सिद्धान्त' (Survival of the fittest) की भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हुई है—

'यह नीड़ मनोहर कृतियों का,
यह विश्व कर्म रंगस्थल है
है परम्परा लग रही यहाँ—
ठहरा जिसमें जितना बल है।'

वस्तुत: 'कामायनी' में प्रतिपादित उपरिलिखित ये सभी विचार तथा सिद्धांत अन्वय-व्यतिरेक शैली से मुख्य रूप से शैवाद्वैतपर आधृत आनन्दवाद का ही पोषण करते है। शुक्लजी के अनुसार—'कामायनी' में 'प्रसादजी' ने अपने प्रिय आनन्दवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बनाकर की है। यह आनन्दवाद वल्लभाचार्य के 'काम' या आनन्द के ढंग का न होकर तांत्रिकों और योगियों की अन्तर्भूमि-पद्धति पर है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि 'प्रसाद'जी ने मनु, श्रद्धा तथा इड़ा आदि की यत्र-तत्र असम्बद्ध रूप में बिखरी हुई कथाओं का संकलन करके एक सुसम्बद्ध कथानक की योजना की है, जो कि मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक चेतना की सुदृढ एवं शाश्वत भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। इसके अतिरिक्त 'कामायनी' में काव्य और दर्शन के संयोग का भी चरम विकास दृष्टिगोचर होता है।

भावुकता से 'प्रसादजी' जीवन की रागात्मक वृत्तियों को चेतना देते है और दर्शन से जीवन के राग-विरागों को समझने और सुलझाने की शक्ति।

प्रश्न ७—भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य की परिभाषा देते हुए 'कामायनी' के महाकाव्यत्व पर विचार कीजिये।

उत्तर - असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न कोई भी कवि परम्परागत शास्त्रीय नियमों के आधार पर ही काव्य-सृजन नही करता। अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा द्वारा वह नूतन आयामों की भी सृष्टि करता है। युग-परिवर्तन के साथ-साथ जीवन सम्बन्धी मूल्य, मान्यताएँ एवं आदर्श भी बदलते रहते है और उनके अनुसार साहित्य का रूप तथा उसके मानदण्ड भी बदलते है। अतएव किसी भी कृति का मूल्यांकन परम्परागत शास्त्रीय नियमों के आधार पर करना समीचीन प्रतीत नही होता। महाकाव्य के रूप में 'कामायनी' का भी मूल्यांकन युग-परिवेश को ध्यान में रखते हुए उन्ही शास्त्रीय नियमों के आधार पर किया जा सकता है, जो कि शाश्वत है, देश-काल सापेक्ष न होने के कारण भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में पर्याप्त सीमा तक समान रूप से मिलते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने शास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्य के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसकी निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
श्रृंगार वीरशान्ता नामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक-सन्धयः
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।

अतः साहित्य-दर्पण के अनुसार महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए, जिसमें कम-से-कम आठ सर्ग हों, जो न बहुत छोटे हों और न अति बड़े हों। प्रत्येक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग हो, जो केवल अन्त मे बदलना चाहिए, कभी-कभी एक सर्ग नाना छंदों मे भी हो सकता है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में अगले

सर्ग के विषय की ओर संकेत होना चाहिए।

महाकाव्य की कथा के सम्बन्ध में साहित्य-दर्पणकार का मत है कि वह ऐतिहासिक और पौराणिक होनी चाहिए तथा उसके सगठन मे नाटकीय संधियों का प्रयोग होना चाहिए। महाकाव्य का नायक कोई सुर या कुलीन क्षत्रीय हो। उसका व्यक्तित्व उदात्त गुणो से युक्त तथा गरिमा-विशिष्ट होना चाहिए दशरूपककार के अनुसार वह अतिगम्भीर, क्षमावान, आत्मश्लाघाहीन, स्थिर तथा अहंकार को छिपाने वाला होता है—

'महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥"

इसका अगीरस वीर, शृंगार तथा शांत होना चाहिए। अंगीरस के सहायक रूप में अन्य रसो की भी योजना होनी चाहिए।

महाकाव्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मे से कोई होना चाहिए तथा उसके आरम्भ मे ईश-वंदना, आशीर्वाद अथवा कथावस्तु का निर्देश होना चाहिए।

उसमे प्रसंगानुसार संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रभात आदि प्रकृति के रमणीय दृश्यों का और यथा-अवसर कुमार-जन्म, विवाहोत्सव, यज्ञ, आक्रमण, मृगया आदि का भी वर्णन होना चाहिए।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे दो प्रकार के महाकाव्यो का उल्लेख मिलता है—

(क) Epic of growth—संकलनात्मक महाकाव्य।

(ख) Epic of Art—कलात्मक महाकाव्य।

संकलनात्मक महाकाव्य में मुख्य रूप से सामाजिक यथार्थ एवं आदर्शों की नियोजना होती है। उसकी शैली स्वाभाविक, सरल तथा सुबोध होती है। उसमें कवि का ध्यान कला-सौष्ठव की अपेक्षा जीवन सम्बन्धी मूल्यों के प्रतिपादन पर अधिक होता है। किन्तु कलात्मक महाकाव्य में कवि की दृष्टि रचना-सौन्दर्य पर अपेक्षाकृत अधिक होती है। उसकी शैली पूर्णतया सुसंस्कृत एवं पारिमार्जित होती है तथा उसमे उत्कर्ष-विधायक काव्य गुणों का अधिकाधिक समावेश रहता है।

पाश्चात्य विद्वान अरस्तू के अभिमतानुसार महाकाव्य काव्यानुकृति का वह भेद है, जिसका रूप समाख्यानात्मक होता है तथा जिसमे एक ही छंद का प्रयोग किया जाता है। उसमें सुसम्बद्ध तथा औत्सुक्य-युक्त ऐतिहासिक कथा

होती है, जो आरम्भ, मध्य एवं अवसान से युक्त एक प्राणी के अंग की भाँति सर्वांगपूर्ण तथा त्रासदी की भाँति नाटकीय ढंग से संयोजित होती है। उसमें अनेक पार्श्व-व्यापारों (Episodes) की सृष्टि होती है, जो उसे बहुरूपता तथा गाम्भीर्य प्रदान करते हैं।

वाल्टर पेटर ने महाकाव्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा है कि उसमें विस्तृत परिधि, वैविध्य, महान उद्देश्यो के साथ मैत्री, विद्रोह के स्वर की गहनता, आशा को विशालता, प्राचीन एवं नवीन मानव-सत्यों का उद्घाटन, पारस्परिक सहानुभूति संवर्द्धन की भावना तथा लोक-मंगल की साधनावस्था का वर्णन होता है।

एवरक्रौम्वी (L. A`ercrombe) ने भी महाकाव्य के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहा है कि उसकी कथा ऐतिहासिक होती. है तथा उसमें जीवन का महत्त्व प्रदर्शित किया जाता है। उसमें ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा काव्य-सत्य का प्राधान्य होता है। मानव-जीवन के महान् उद्देश्यों का उसमें सफल उद्घाटन किया जाता है। उसकी रचना-शैली कलात्मक एवं सशक्त होती है तथा नाटकीय ढग से अन्तिम कार्य का वर्णन किया जाता है।

वांक्विलिन के अनुसार महाकाव्य सार्वभौम जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण चित्र है—"An Epic is the mirror of the world and contains all in itself."

उदात्त कथानक

भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों द्वारा महाकाव्य की कसौटी के लिए निर्दिष्ट उन शास्त्रीय नियमों के आधार पर, जो कि देश-काल सापेक्ष नहीं है, जब हम 'कामायनी' का विश्लेषण करते है तो हम देखते हैं कि 'कामायनी' की कथावस्तु पौराणिक एवं ऐतिहासिक है। यदि इतिहास को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाय तो 'कामायनी' के सभी पात्र, घटनाएँ एवं स्थान ऐतिहासिक सिद्ध होते है। उनकी कथा-सामग्री ऋग्वेद, पुराणो तथा शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रंथों में बिखरी हुई मिलती है। मनु, श्रद्धा तथा इड़ा की यत्र-तत्र असम्बद्ध रूप में बिखरी हुई कथाओं को आधार रूप मे ग्रहण करके 'प्रसादजी' ने अपनी उर्वर कल्पना द्वारा एक सुसम्बद्ध एवं उदात्त कथानक की योजना की है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार 'कामायनी' की घटनाएँ अत्यन्त उदात्त एवं महान् है। किन्तु,

उनका क्षेत्र ब्रह्माण्ड नही है, पिण्ड है—मानव-आत्मा या मानव-चेतना है। परम्परागत महाकाव्यो की आधारभूत घटनाओ— युद्ध आदि की भांति उनका विस्तार भौतिक जगत् मे लक्षित नही होता—उनका विस्तार होता है मानव-चेतना के भीतर, जहाँ घटित होकर वे समग्र मानव-जीवन पर गहरा और स्थायी प्रभाव डालती हैं।[1] 'कामायनी' मे वर्णित देवी-सृष्टि के नाश तथा प्रलय के पश्चात् मनु का धीरे-धीरे प्रकृति पर विजय पाना, श्रद्धा से उसका मिलन तथा उसके प्रणय-पूर्ण ससर्ग से सस्कृति-विकास, किन्तु अपनी अबाधित एकाधिकार की भावना के कारण मनु द्वारा ईर्ष्यावश श्रद्धा का त्याग, इडा के सहयोग से सारस्वत प्रदेश का विकास, बुद्धि की प्रतीक इड़ा पर पूर्ण अधिकार करने की चेष्टा तथा उसमे विफलता, अन्त में हृदय की विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति, श्रद्धा के सहयोग से मनु द्वारा सामरस्य की अवस्था में अखण्ड आनन्द की प्राप्ति आदि उदात्त घटनाएँ आदिपुरुष एव नारी के सहयोग से मानव सभ्यता के मनोवैज्ञानिक विकास को व्यंजित करती है। 'कामायनी' का वस्तु-विन्यास सरल किन्तु धार्मिक है। उसके अन्तिभ तीन सर्गो—दर्शन, रहस्य और आनन्द मे जीवन के आध्यात्मिक मूल्यो की स्थापना की गई है। काम, वासना, लज्जा तथा ईर्ष्या सर्गों मे मानव-हृदय के विविध भावो का सूक्ष्म चित्रण किया गया है।

भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यो ने महाकाव्य की कथावस्तु के विकास में नाटकीय तत्त्वो का समावेश आवश्यक माना है। चरित्र-प्रधान एव घटना प्रधान महाकाव्यो मे तो इनका समावेश सहज सम्भव है, किन्तु जिस महाकाव्य में घटना-बाहुल्य की अपेक्षा विविध भावो का चित्रण प्रधान होता है, उस महाकाव्य मे कार्यावस्थाओ एव नाट्य-संधियो का विस्तार अपेक्षाकृत कठिन होता है। यदि कोई कवि भाव-प्रधान महाकाव्य मे भी इन नाट्य-तत्त्वो का निर्वाह सफलतापूर्वक कर लेता है, तो इससे उसकी मूल संवेद्य भावना और भी अधिक प्रभविष्णु हो उठती है। 'प्रसाद' ने 'कामायनी' का प्रणयन करते समय भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र मे निर्दिष्ट नाटकीय तत्त्वो का सम्मिलित रूप मे निर्वाह किया है। इसीलिए 'कामायनी' मे आधुनिक युग के अन्य महाकाव्यों की अपेक्षा सम्प्रेषणीयता अपेक्षाकृत अधिक है।

---

१. कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ— डॉ० नगेन्द्र, पृ० ७१

विवेच्य कृति मे मनु एव श्रद्धा की कथा 'आधिकारिक' वस्तु है। प्रासगिक वस्तु के अन्तर्गत इड़ा सम्बन्धी कथा 'पताका' तथा आकुलि-किलात के पौरोहित्य-कर्म की कथा 'प्रकरी' कही जा सकती है।

भारतीय आचार्यो ने कथावस्तु की सुसम्बद्धता तथा औत्सुक्य की दृष्टि से पॉच कार्यावस्थाओ का उल्लेख किया है—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्तयाशा नियताप्ति और फलागम। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र मे भी कथावस्तु के विकास के लिए छह कार्यावस्थाओं का निर्देश किया गया है—१. आरम्भ या व्याख्या (Exposition); २. प्रारम्भिक संघर्पमयी घटना (Incident); ३. कार्य का चरम सीमा की ओर बढना (Rising Action); ४. चरम-सीमा (Crisis); ५. निगति या कार्य की ओर झुकाव (Denouncment); और ६. अंतिम फल (Catastrophe)। वस्तुतः पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट इन कार्यावस्थाओ में कोई विशेष मौलिक अन्तर नही है। 'कामायनी' में वर्णित 'चिंता', 'आशा' तथा 'श्रद्धा' सर्ग की कथा 'आरम्भ' की कार्यावस्था है, 'काम' सर्ग से लेकर स्वप्न' सर्ग तक की कथा 'प्रयत्न' नामक दूसरी कार्यावस्था के अन्तर्गत आती है। 'प्राप्त्याशा' का स्वरूप 'स्वप्न' सर्ग के अन्त से लेकर 'दर्शन' सर्ग के मध्य मे मनु के सारस्वत नगर से भाग जाने पर श्रद्धा द्वारा उनकी खोज तथा उनके पुर्नमिलन तक मिलता है। दर्शन सर्ग के मध्य मे 'भोले रमणी तुम नही आह! जिसके मन मे हो भरी चाह' पंक्ति से लेकर 'रहस्य' सर्ग के अन्त तक की कथा को 'नियताप्ति' नामक कार्यावस्था कहा जा सकता है। 'फलागम' नामक कार्यावस्था का स्वरूप अंतिम 'आनन्द' सर्ग में मिलता है।

भारतीय नाट्यशास्त्र में इन कार्यावस्थाओ के अतिरिक्त पॉच नाट्य-संधियो का भी उल्लेख मिलता है—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण या उपसंहृति। इन संधियो के द्वारा कथा के विभिन्न भागो को परस्पर अन्वित करके उन्हे मुख्य प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाता है। प्रारम्भ के तीन सर्गों—चिता, आशा, श्रद्धा—मे 'मुख' नामक सधि की योजना की गई है जो 'वीज' नामक अर्थप्रकृति एवं 'आरम्भ' नामक कार्यावस्था का मेल करती है। 'काम' सर्ग से लेकर 'संघर्ष' सर्ग पर्यन्त तक की कथा मे 'विदु' अर्थप्रकृति और 'प्रयत्न' कार्यावस्था मिलती है और इनका मेल कराने के लिए प्रतिमुख

संधि की योजना की गई है। 'गर्भ' संधि का स्वरूप 'स्वप्न' सर्ग के अंत से लेकर 'दर्शन' सर्ग के मध्य तक मिलता है। कथा के इस अंश मे 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था तथा 'पताका' अर्थप्रकृति भी मिलती है। 'दर्शन' सर्ग के मध्य से रहस्य सर्ग के अन्त तक नियताप्ति अवस्था के साथ 'अवमर्श' संधि की योजना की गई है। पाँचवी 'निर्वहण' या 'उपसंहृति' संधि का स्वरूप अंतिम आनन्द सर्ग में दृष्टिगोचर होता है क्योंकि इसी सर्ग मे अखंड आनन्द की अनुभूति के रूप मे फलागम होता है। 'प्रसाद' ने शास्त्रीय नियमो को सामने रखकर 'कामायनी' का प्रणयन नही किया है, किन्तु फिर भी इन नाट्य-तत्त्वों का विवेच्य कृति के उदात्त कथानक मे अनायास ही समावेश हो गया है।

उदात्त चरित्र

'कामायनी' के नायक मनु है। देव-पुरुष होने के कारण वे उच्च कुलोद्भव है। उनका हृदय अत्यन्त कोमल है। वे दयावान, धीर, साहसी तथा एक सुयोग्य शासक है। किन्तु इसके साथ ही वे सुखान्वेषी भी है। उनमे अहङ्कार एवं अधिकार की भावना समय-समय पर अत्यन्त प्रबल हो जाती है—

"किन्तु सकल कृतियों की सीमा
है हम ही अपनी तो;
पूरी हो कामना हमारी
विफल प्रयास नहीं तो।"
"यह जलन नहीं सह सकता मै
चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना में
मै रमण करूँ बन एक तत्त्व।"

भारतीय काव्यशास्त्र मे धीरोदात्त नायक के जो लक्षण बताये गये है उन लक्षणो के आधार पर मनु धीरोदात्त नायक सिद्ध नही होते, परन्तु फिर भी 'प्रसाद' ने नायक के रूप मे उनके गौरव की सर्वत्र रक्षा की है। भारतीय पुराणो मे मनु और इडा का सम्बन्ध पिता-पुत्री का मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार एक बार प्रजापति ने अपनी दुहिता के साथ अनैतिक व्यवहार किया और वे देव-कोप के भागी बने। 'प्रसाद'जी ने मनु के गौरव की रक्षा के लिए पिता-पुत्री के इस सम्बन्ध को स्वीकार नही किया है। 'कामायनी' मे केवल

इतना ही सकेत मिलता है कि प्रजा होने के नाते इड़ा मनु की पुत्री के समान थी—'अरे आत्मजा प्रजा ! पाप की परिभाषा वन शाप उठी।' मनु के चरित्र मे मानव-सुलभ दौर्बल्य दिखाने का उद्देश्य सम्भवत. यह है कि 'प्रसाद' जी अपने नायक को अति-मानव बनाना नही चाहते थे। उन्हे आदर्शवादी महाकाव्यो की भाँति नायक मे केवल गुण-ही-गुण दिखाना अभीष्ट नही है। वे उनके व्यक्तित्व मे सात्विक, राजसिक एवं तामसिक तीनो ही प्रवृत्तियो का समावेश करना चाहते है। 'कामायनी' की कथा आधुनिक काल की कथा नही है। वह सृष्टि के प्रारम्भिक काल की कथा है, जबकि मानव-सभ्यता का विकास आरम्भ हुआ था। रूपक की दृष्टि से मनु मन के प्रतीक है। दर्शन की शब्दावली मे वे अन्नमय कोश मे स्थित जीव के प्रतीक है, जो क्रमशः उन्नति करता हुआ शाम्भव स्थिति को प्राप्त करता है। इसी रूपक का निर्वाह करने के लिए मनु मे मानव-सुलभ दुर्बलताओ का उल्लेख करना आवश्यक था। पाशव या आणव स्थिति से आरम्भ होकर जीव किस प्रकार श्रद्धा के सहयोग से इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय कर 'सामरस्य' की अवस्था को प्राप्त करता है—मानव-चेतना का यही विकास दिखाना 'प्रसाद' जी को अभीष्ट है। मन के प्रतीक मनु अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण जब अहकार, स्वार्थ, इन्द्रिय-लिप्सा, ईर्ष्या आदि दुर्गुणो पर विजय प्राप्त करके सामरस्य की अवस्था मे अखण्ड आनन्द की अनुभूति करते है, तो वे धीरोदात्त स्थिति से भी कही ऊपर उठ जाते है।

'कामायनी' नायक-प्रधान काव्य न होकर नायिका-प्रधान काव्य है और इस काव्य की नायिका श्रद्धा है। मनु की भाँति श्रद्धा भी ऐतिहासिक पात्र है। ऋग्वेद मे मनु के साथ उसका उल्लेख ऋषियो की तरह मिलता है। श्रद्धा वाले सूक्त मे सायण ने श्रद्धा को कामगोत्र की कन्या माना है—'कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका।' छादोग्योपनिषद मे श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या भी मिलती है। 'प्रसाद' जी ने उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए उसके उज्ज्वल चरित्र मे सभी सात्विक गुणो का समावेश किया है—

"हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त।
मधु-पवन क्रीडित ज्यों शिशु शाल
सुशोभित हो सौरभ-संयुक्त।"

शुक्लजी ने श्रद्धा को विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति कहा है। हृदय की प्रतीक होने के कारण उसके व्यक्तित्त्व मे सहानुभूति, दया, ममता, त्याग, क्षमा, अगाध विश्वास आदि सभी मधुर-कोमल भावों का समावेश किया गया है।

इड़ा

'कामायनी' की तीसरी प्रमुख पात्र है। इड़ा का भी उल्लेख भारतीय पुराणो मे अनेक स्थानों पर मिलता है। 'प्रसाद' जी ने उसे बुद्धि के प्रतीक रूप मे ग्रहण किया है। इसी इड़ा के सहयोग से मनु सारस्वत प्रदेश का विकास करते हे। श्रद्धा की भाँति इडा के व्यक्तित्त्व मे भी वांछित ऐश्वर्य एवं गरिमा है। मनु के साथ कैलाश पर्वत की ओर जाते समय श्रद्धा अपने पुत्र कुमार को इसी इडा के संरक्षण मे छोड जाती है, ताकि उसके व्यक्तित्व मे पिता की मननशीलता तथा माँ के श्रद्धा-विश्वास के साथ-साथ बुद्धि-तत्त्व का भी समावेश हो सके—

"हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा-भार;
यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय
तू मननशील, कर कर्म अभय
सबकी समरसता कर प्रचार.
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।"

वस्तुत किसी भी भाव-प्रधान महाकाव्य की रोचकता एवं प्रभविष्णुता का मुख्य कारण उसमें वर्णित अन्तर्वृत्तियो एवं उनके आध्यात्मिक परिणामो की नियोजना होती है, पात्रो का कार्य तो गौण होता है। 'प्रसाद' जी ने भी घटनाओ तथा चरित्रो के बाहुल्य की अपेक्षा हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों के उदघाटन की ओर अधिक ध्यान दिया है और 'कामायनी' मे कथानक के अनुरूप जिन उदात्त चरित्रो की योजना की गई है वे सभी मानव-प्रवृत्तियों के प्रतीक होने के कारण देश और काल के विस्तार में आवद्ध नही है। मनु, श्रद्धा तथा इडा अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करते हैं।

प्रकृति-चित्रण

महाकाव्य मे जीवन के विविध उत्सवों तथा प्राकृतिक दृश्यों का अंकन

आवश्यक माना गया है। 'कामायनी' मे प्रकृति के विविध रूपों का अत्यन्त विशद चित्रण मिलता है, क्योंकि 'कामायनी' की अधिकांश घटनाएँ प्रकृति की सुरम्य मधुमयी गोद मे घटित हुई है। मानव-भावों के उद्‌घाटन के लिए कवि ने पृष्ठभूमि के रूप में अत्यन्त आकर्षक प्राकृतिक वातावरण की योजना की है। प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण करते समय 'प्रसाद' जी ने नाम-परिगणन प्रणाली की अपेक्षा विम्वग्रहण-प्रणाली को अधिक महत्त्व दिया है। 'कामायनी' में प्रसंगानुकूल प्रकृति के भयानक एव रम्य—दोनों ही रूपो का चित्रण किया गया है। चिंता सर्ग मे प्रकृति के भयानक रूप का वर्णन मिलता है। महाप्रलय का वर्णन करते समय कवि ने भयंकर झंझावात, उल्कापात, गरजती सिन्धु-लहरियो, धँसती धरा, आग उगलते ज्वालामुखियों का सजीव चित्र अंकित किया है—

उधर गरजती सिंधु-लहरियां
कुटिल काल के जालों-सी,
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों-सी।
धँसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वाला-मुखियों के निश्वास,
और संकुचित क्रमश: उसके
अवयव का होता था ह्रास।

प्रकृति के भयानक रूप के साथ-साथ उसके रमणीय रूप का भी चित्रण 'कामायनी' में हुआ है। नगाधिराज हिमालय, ऊषा, रजनी, सूर्य, चन्द्र आदि का चित्रण उद्दीपन रूप मे अत्यन्त आकर्षक एवं मनोहारी है। प्रकृति का संवेदात्मक रूप भी 'कामायनी' मे मिलता है। प्रकृति मानव के रुदन के साथ रोती हुई और हास के साथ हँसती हुई दिखाई देती है। स्वप्न सर्ग मे विर-हिणी श्रद्धा की करुण दशा देखकर पर्वत भी करुणार्द्र हो जाते है। उसकी दुखभरी गाथा सुनकर वे रोमांचित हो जाते हैं तथा उसकी सूनी आहो के साथ-साथ वे भी आह भरते हुए दिखाई देते है—

सध्या-नील-सरोरुह से जो श्याम पराग बिखरते थे,
शैल-घाटियों के अंचल को वे धीरे से भरते थे।

तृण-गुल्मों से रोमांचित नग सुनते उस दुख की गाथा,
श्रद्धा की सूनी साँसो से मिलकर जो स्वर भरते थे—

'कामायनी' मे प्रकृति का प्रयोग वातावरण निर्माण के लिए तथा विश्वव्यापी रहस्यमयी सत्ता का वर्णन करने के लिए भी हुआ है। छायावाद की प्रवृत्ति के अनुरूप प्रकृति का प्रतीकात्मक चित्रण भी 'कामायनी' में मिलता है। इसके अतिरिक्त कवि ने उपमानों के रूप में भी प्रकृति का प्रयोग किया है। श्रद्धा के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करते समय उसके मुख को संध्याकालीन अरुण, घुँघराले बालो को सुकुमार नील घन-शावक, मुस्कान को कोमल किसलय पर विश्राम करती हुई अरुण की एक अम्लान किरण, हँसी को नवल मधु राका कहा गया है—

आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हो घनश्याम;
अरुण रवि-मडल उसको भेद
दिखाई देता हो छवि धाम।
और उस मुख पर वह मुसक्यान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम।
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम !

युग-बोध एवं उदात्त भाव

प्रत्येक महाकाव्य अपने युग का प्रतिनिधि होता है। 'कामायनी' की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमें अतीत के धरातल पर वर्तमान युग की समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। 'कर्म' सर्ग मे मनु के पशु-यज्ञ का विरोध करते हुए श्रद्धा ने जो विचार प्रकट किये है—उनमें गाधीवादी सत्य एवं अहिंसा का स्वरूप परिलक्षित होता है। प्रगतिवादी विचारों के आधार पर 'कामायनी' मे एक वर्गहीन समाज की भी कल्पना की गई है, जिसमे सभी आनन्दमग्न दिखाई देते है। कवि ने सारस्वत प्रदेश के चित्रण में आधुनिक युग की बुद्धिवादिता तथा भौतिकता की ओर सकेत किया है। कवि के अनुसार केवल भौतिकता की उन्नति तथा एकाधिकार की भावना से संघर्ष की सृष्टि होती है। आज का मानव वास्तविक उन्नति तभी कर सकता है, जबकि

उसमें बौद्धिकता के साथ-साथ मननशीलता एवं श्रद्धा-विश्वास की भावना भी विद्यमान हो।

'कामायनी' का प्रमुख कार्य है—भाववृत्ति, कर्मवृत्ति तथा ज्ञानवृत्ति के सामंजस्य द्वारा सामरस्य की अवस्था मे अखण्ड आनन्द की अनुभूति। इस कार्य की सिद्धि के लिए 'प्रसाद' जी ने भारतीय पुराणो में उपलब्ध त्रिपुर की कथा को प्रतीक रूप में ग्रहण किया है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान की विशृंखलता के कारण मन के प्रतीक मनु सदैव अशान्त रहते है। श्रद्धा के संसर्ग से उनके अहं का परिष्कार होता है, किन्तु समय-समय पर उनका अहं अत्यधिक प्रबल हो उठता है। ईर्ष्यावश वे श्रद्धा को छोड़कर सारस्वत प्रदेश चले जाते है। वहाँ वे अपनी एकाधिकार की भावना के कारण बुद्धि की प्रतीक इड़ा पर भी अपना अधिकार करना चाहते है, जिसमे वे असफल होते है और एक प्रकार की मानसिक प्रलय होती है। इसी समय उनका श्रद्धा से पुनर्मिलन होता है और वह मनु को कैलाश शिखर पर ले जाती है, जहाँ मनु शिवत्व को प्राप्त करते है। भाव, कर्म और ज्ञान मानव-चेतना की इन तीनो प्रवृत्तियों मे सामञ्जस्य की स्थापना निश्चित रूप से अपने आप में अत्यन्त उदात्त कार्य है।

रस

'कामायनी' मे प्रसंगानुकूल शृंगार, वात्सल्य, रौद्र, वीर आदि रसों का पूर्ण परिपाक मिलता है। 'चिन्ता' सर्ग मे देवताओ के विलास के चित्रण मे संयोग शृंगार का उद्दाम चित्रण है, जो करुणा का पोषक है। श्रद्धा और मनु के प्रणय-प्रसंग मे संयोग शृंगार तथा 'स्वप्न' सर्ग मे विप्रलम्भ शृंगार एवं वात्सल्य की अभिव्यक्ति हुई है। प्रलय का चित्रण भयानक रस से सिक्त है। मनु और प्रजा के संघर्ष तथा रुद्रकोप मे वीर एवं रौद्र रस का परिपाक हुआ है। पशु की हत्या के प्रसंग मे वीभत्स रस मिलता है। 'चिन्ता' तथा 'निर्वेद' सर्गो मे निर्वेदमूलक शान्त तथा 'रहस्य' सर्ग में अद्भुत रस व्यजित हुआ है। इन सभी रसो मे से शृंगार और शान्त—इन दो रसो की व्यंजना अपेक्षाकृत अधिक हुई है। डॉ० नगेन्द्र ने इन रसो मे से आनन्द रस (जिसका दूसारा नाम भौतिक अर्थ में शात भी है) को 'कामायनी' का अंगीरस माना है। उनके अभिमतानुसार 'जिस प्रकार 'कामायनी' का कथानक जीवन को अखण्डता मे

ग्रहण करता है और जिस प्रकार 'कामायनी' का प्रतिपाद्य जीवन की एकांगी सिद्धि न होकर सर्वांगीण सिद्धि ही है, इसी प्रकार 'कामायनी' का अंगीरस भी एकागी शान्त या शृगार नही है, वरन् अखंड आत्मरस है। इसी को महा-रस या आनन्दरस कहा गया है।'[1]

इन गुणो के अतिरिक्त महाकाव्योचित अन्य विशेषताएँ भी 'कामायनी' में सहज उपलब्ध हो जाती है। भारतीय आचार्यों के अनुसार महाकाव्य का नामकरण प्रमुख पात्र अथवा घटना के आधार पर होना चाहिए। विवेच्य कृति नायिका-प्रधान काव्य है। अतएव उसका नामकरण कामगोत्रजा श्रद्धा या 'कामायनी' के नाम पर हुआ है। इसमे पन्द्रह सर्ग है। प्रत्येक सर्ग का नामकरण उसमे वर्णित कथाश अथवा मुख्य घटना के आधार पर किया गया है। विवेच्य कृति मे भारतीय आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट छंद सम्बन्धी नियमों का भी यथासम्भव निर्वाह किया गया है। कवि ने सूक्ष्म एवं उदात्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रसंगानुकूल विविध छंदो का चयन किया है। शास्त्रीय नियमो के अनुसार महाकाव्य में प्रत्येक सर्ग के अंतिम छंद द्वारा आने वाले सर्ग की कथा का आभास दिया जाना चाहिए। 'कामायनी' के अधिकांश सर्गो मे महाकाव्य सम्बन्धी यह विशेषता भी मिलती है। 'चिता' आदि सर्गों की अंतिम पंक्तियो द्वारा आने वाले सर्ग की कथा का आभास पाठक अथवा श्रोता को सहज ही हो जाता है—

वाष्प बना उजडा जाता था
या वह भीषण जल संघात,
सौर-चक्र में आवर्तन था
प्रलय निशा का होता प्रात!

'प्रलय निशा का होता प्रात'—चिता सर्ग की इस अतिम पंक्ति के द्वारा 'आशा' सर्ग की कथा की ओर सकेत किया गया है कि किस प्रकार प्रकृति का विध्वंसक नृत्य धीरे-धीरे शात हो गया, प्रकृति पुन: विहँसने लगी और प्रकृति के इस परिवर्तन को लक्षित कर मनु के मन मे चिता-जन्य दैन्य-निराशा के स्थान पर नई सकल्पमयी आशा और जिजीविषा का संचार हुआ।

१—'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ'—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १६

उदात्त शैली

'कामायनी' की शैली अत्यन्त सुसंस्कृत एवं परिमार्जित है। पाश्चात्य आचार्यों के अनुसार महाकाव्य की शैली अपने आप मे असाधारण होती है। शैली की दृष्टि से असाधारणता का यह गुण 'कामायनी' मे प्रचुर मात्रा में मिलता है। 'प्रसाद' जी ने अन्य महाकवियो की भाँति वस्तु-वर्णन में परिगणन-शैली को ग्रहण नही किया है। उनकी वर्णन-शैली प्रगीत काव्य की भावात्मक शैली है, जिसमें वस्तु के उन्ही अंगो का वर्णन होता है, जो कि अधिक-से-अधिक भावात्मक होते है अथवा भावो को उद्‌बुद्ध करने मे सहायक होते है। 'कामायनी' की शैली माधुर्य, ओज तथा प्रसाद तीनों ही गुणों से सम्पन्न सर्वत्र भावानुकूल है। किन्तु इड़ा आदि सर्गो में कही-कही भाषा इतनी अधिक भावात्मक हो गई है कि वह क्लिष्ट प्रतीत होती है। उसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि साम्यमूलक प्राचीन अलंकारो के साथ-साथ मानवीकरण(Personification),विशेषण-विपर्यय(Transferred Epithet), ध्वन्यर्थ-व्यंजना आदि नवीन अलंकारो का भी प्रयोग हुआ है। पाश्चात्य आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट नियमो के अनुसार 'कामायनी' की रचना-शैली कलात्मक है। उसके द्वारा जीवन के सुन्दर और विराट्, मधुर और भयानक अनेक सफल चित्र अंकित किये गये है। हृदय के मधुर-कोमल एवं उदात्त भावो की अभिव्यक्ति मे वह पूर्णतया समर्थ है। उसमे जो भव्यता और गरिमा है, वह आधुनिक युग के अन्य महाकाव्यो मे सहज उपलब्ध नही होती।

इस प्रकार हम देखते है कि 'कामायनी' भारतीय एव पाश्चात्य आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्योचित सभी गुणो से सम्पन्न भावप्रधान कलात्मक रचना है। उसमे अतीत के धरातल पर वर्तमान युग की समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। उसके सभी पात्र मानव मन की विविध प्रवृत्तियों के प्रतीक है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार 'कामायनी' ऐहिक जीवन का महाकाव्य नही है, मानव-चेतना का महाकाव्य है—अत. रूपक-तत्त्व, जो सामान्यत: महाकाव्य में वाधक होता है, यहाँ साधक वनकर आया है, इसीलिए प्रगीत तत्त्व भी यहाँ वाधक न होकर साधक ही हुआ है। मानव-चेतना के विकास का यह महाकाव्य अथवा मानव-सभ्यता के विकास का यह विराट् रूपक साहित्य के इतिहास मे एक नवीन प्रयोग है—एक अद्‌भुत उपलब्धि है।

प्रश्न ८—शास्त्रीय दृष्टि से 'कामायनी' में अभिव्यक्त विविध रसों का विवेचन करते हुए उसके अंगीरस पर विचार कीजिये।

उत्तर—भारतीय काव्यशास्त्र मे रस को काव्य की आत्मा मानते हुए उसे ब्रह्मानन्द सहोदर—रसो वै स:—कहा गया है। राजशेखर (काव्य-मीमांसा) के अनुसार शब्द व अर्थ काव्य के शरीर है और रस काव्य की आत्मा है। आचार्यों के अभिमतानुसार आलम्बन विभाव से उदबुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारियों से परिपुष्टि तथा अनुभावो से परिव्यक्त सहृदय का स्थायी भाव ही रस-दशा को प्राप्त होता है—

"विभावेनानुभावेन व्यक्त. सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादि. स्थायिभाव: सचेतसाम् ॥"

रस आस्वाद रूप है—अस्वाद्यते (रस्यते)—इति रस.। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने इसके स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसे अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य, ब्रह्मस्वाद-सहोदर, लोकोत्तर चमत्कार-प्राण आदि पदो द्वारा अभिहित किया है—

"सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मय.
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मस्वाद-सहोदर:।
लोकोत्तर चमत्कारप्राण: कैश्चित्प्रमातृभि:
स्वाकारवदभिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रस: ॥"

'प्रसाद' जी ने काव्य को आत्मा की 'संकलपात्मक मूल अनुभूति' तथा 'श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा' कहकर भारतीय दर्शन और साहित्य का समन्वय 'रस' मे स्वीकार किया है। उसके अनुसार 'रस मे लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं, किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर।' काव्य मे रस को प्रमुख मानते हुए उन्होने साहित्य को दो श्रेणियो मे विभाजित किया है—'आनन्द-प्रधान या रसात्मक तथा बौद्धिक या अलंकारिक।'[1]

आचार्य भरत ने मूलत: आठ ही रस स्वीकार किये है और उनमे भी शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स को प्रधान एवं मौलिक तथा हास्य, करुण, भयानक और अदभुत को गौण एवं व्युत्पन्न माना है। परवर्ती आचार्यों ने

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—(पं० सं०) पृ० ३७, ८५, १५

शान्तोऽपि नवमो रस.' कहकर शांत को भी रस रूप मे स्वीकार कर लिया। इन रसों के अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ के द्वारा वात्सल्य रस तथा भक्त आचार्यो विशेषकर रूप गोस्वामी के द्वारा भक्ति रस की प्रतिष्ठा हुई। 'कामायनी' में महाकाव्य के अनुरूप उदात्त कथानक को ग्रहण किया गया है, जिसमें जीवन के विस्तृत आयाम के कारण प्रसगानुकूल प्राय: सभी रसो की अभिव्यक्ति हुई है।

शृंगार को रसराज कहा गया है—'शृगाररसो हि ससारिणा नियमेनानुभव विषयत्वात् सर्वरसेभ्य. कमनीय तथा प्रधान् भूत'।' अग्निपुराणकार का मत है कि रतिमूलक शृंगार ही एकमात्र रस है तथा अन्य सभी रस उससे ही प्रसूत हुए है —'तद्भेदा: काममितरे हास्याद्या अप्यनेकश'।' शृगार की व्यापकता का सबसे बडा कारण यही हे कि इसमे केवल आलम्बन की चेष्टाएँ ही नही, अपितु सम्पूर्ण प्रकृति उद्दीपन का कार्य करती है। इसकी चरम अनुभूति के समय आश्रय को सर्वत्र ही आलम्बन के रूप एव गुणो का प्रसार दृष्टिगत होता है। 'कामायनी' मे श्रद्धा से संसर्ग होते ही मनु के मन मे चिंता एव निराशा के स्थान पर तरलता एवं सरलता का संचार होता है। उनका जीवन मधुमय वसंत से मुखरित हो उठता है। उन्हे प्रकृति के सभी उपकरणो मे श्रद्धा का ही रूप दिखाई देता है। कलकल नाद करते हुए झरने उन्हें श्रद्धा के कोमल कठ तथा फूलों की मुसक्यान श्रद्धा की सरस हँसी प्रतीत होती है—

जब लिखते थे तुम सरस हँसी
अपनी, फूलों के अंचल में,
अपना कलकंठ मिलाते थे
झरनों के कोमल कल-कल में।
लतिका घूँघट से चितवन की
वह कुसुम-दुग्ध-सी मधु धारा,
प्लावित करती मन-अजिर रही,
था तुच्छ विश्व-वैभव सारा।

शृंगार का स्थायीभाव रति है, जिससे उद्‌बुद्ध करने के लिए 'नायिका' का नखशिख वर्णन (रूप-चित्रण) किया जाता है। 'प्रसाद' जी ने भी 'कामायनी' मे श्रद्धा को अनुपम सौन्दर्य-युक्त नारी के रूप मे चित्रित किया है।

श्रद्धा के रूप-माधुर्य को देखकर ही मनु के मन मे काम की सहज भावना जाग्रत होती है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन-बीच गुलाबी रंग।

× × ×

कुसुम, कानन-अंचल में मन्द—
पवन-प्रेरित सौरभ साकार,
रचित-परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो, ले मधु का आधार।

प्रकृति का उद्दीपक वातावरण भी मनुष्य के मन मे काम का संचार करता है। मधु बरसती विधु किरणो तथा शीतल मंद सुगन्ध पवन से उद्दीप्त मनुष्य का मन अपनी प्रेमिका से मिलने के लिए अत्यन्त व्याकुल हो उठता है। प्रकृति के उद्दीप्त वातावरण को देखकर मनु के मन मे भी श्रद्धा से मिलने के लिए अत्यन्त तीव्र उत्कंठा जाग्रत हो जाती है—

मधु बरसती विधु किरण है कांपती सुकुमार;
पवन में है पुलक, मन्थर चल रहा मधु-भार।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?

श्रद्धा एवं मनु के परस्पर प्रेम की पराकाष्ठा परिणय के रूप मे होती है। अनुराग की इस तीव्र अनुभूति के समय श्रद्धा आत्म-समर्पण कर देती है। मधु-मिलन के अवसर पर उत्पन्न होने वाले पुलक, स्पर्श, लज्जा आदि अनुभावो एवं संचारी भावो को भी कवि ने प्रस्तुत किया है—

मधुर व्रीड़ा-मिश्र चिन्ता साथ ले उल्लास,
हृदय का आनंद कूजन लगा करने रास।
गिर रही पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।

स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्गद बोल ।

श्रद्धा एवं मनु के प्रसग के अतिरिक्त चिता सर्ग मे देवताओ के विलास मे भी सयोग-शृगार अभिव्यक्त हुआ है, किन्तु वहाँ वह करुण का पोषक है ।

संयोग शृगार की भाँति विप्रलम्भ शृगार की भी अभिव्यक्ति 'कामायनी' मे हुई है। भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' मे विप्रलम्भ के चार भेदो का उल्लेख किया है— पूर्वानुराग, मान, प्रवास एव करुण । मिलन अथवा समागम से पूर्व हृदय मे जो अनुराग का आविर्भाव होता है उसे पूर्वराग या पूर्वानुराग कहा जाता है । इसकी अभिव्यक्ति 'कामायनी' मे नही है । प्रियापराधजनित कोप को मान कहते है । असुर-पुरोहित आकुलि-किलात की प्रेरणा से जब मनु 'मैत्रावरुण' यज्ञ मे निरीह पशु की बलि देते है तो उस समय श्रद्धा मान करती है—

मधुर विरक्ति भरी आकुलता घिरती हृदय-गगन में,
अन्तर्दाह स्नेह का तब भी होता था उस मन में ।
वे असहाय नयन थे खुलते-मुँदते भीषणता में,
आज स्नेह का पात्र खड़ा था, स्पष्ट कुटिल कटुता में ।

यहाँ पर श्रद्धा आश्रय तथा मनु आलम्बन है । श्रद्धा द्वारा पालित पशु की बलि उद्दीपन है । दुखी होकर लौट आना, मन-ही-मन विलखना, मधुर विरक्ति भरी आकुलता अनुभाव है । अमर्ष, आवेग, विषाद आदि संचारी भाव है तथा इन सबसे परिपुष्ट रति स्थायी भाव है ।

स्वप्न सर्ग मे मनु के ईर्ष्यावश श्रद्धा को छोड़कर चले जाने पर प्रवास विप्रलम्भ अभिव्यंजित हुआ है—

वन-बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से,
लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से,
किन्तु न आया वह परदेशी युग छिप गया प्रतीक्षा में,
रजनी की भीगी पलकों से तुहिन-बिंदु कण-कण बरसे ।।

प्रायः सभी महाकवियो ने संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ की ही व्यंजना अधिक की है । इसका कारण यह है कि सयोग की दशा मे जहाँ भावनाएँ संकुचित हो जाती है, वहाँ इसके विपरीत वियोग की दशा मे भावनाएँ चारों

ओर प्रसरित होने लगती है। प्रकृति के समस्त उपकरण विरहिणी को अपने सुख-दु:ख मे सहायक प्रतीत होते है। श्रद्धा मन्दाकिनी से सुख-दु:ख का रहस्य प्रकट करने के लिए आग्रह करती हुई कहती है—

जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मन्दाकिनी कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर मे या बुदबुद हैं गिन दोगी ?
प्रतिबिम्बित हैं तारा तुम में, सिंधु मिलन को जाती हो ;
या दोनों प्रतिबिम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी ?

प्रकृति के जो उपकरण सँयोग की दशा मे सरस एवं सुखदायक प्रतीत होते है, वही विरह की दशा मे दु:खदायी हो जाते हैं। सारी प्रकृति उसे सूनी-सूनी लगती है। विरह की दशा मे श्रद्धा को अतीत के मधुमय दिनो की स्मृति बार-बार आती है। वह उन्हे विस्मृत करना चाहती है, किन्तु कर नही पाती। मनु द्वारा प्रवचित होने पर भी उसका विरह-दग्ध हृदय पराजय स्वीकार नहीं करता। हृदय की विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति श्रद्धा असीम धैर्य का परिचय देती हुई सदैव यही कहती है—

विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमे कुछ सार नहीं,
वह जलती छाती न रही, अब वैसा शीतल प्यार नहीं ;
सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा मधु अभिलाषाएँ,
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरा हार नहीं।

'कामायनी' मे अभिव्यंजित विप्रलम्भ श्रृंगार की समीक्षा करते हुए डॉ० रामलाल सिंह ने कहा है कि 'आँसू' जैसा विरह-काव्य लिखने वाला कवि यहाँ बहुत ही सतुलित तथा संयमशील दिखाई पड़ता है। इसके दो प्रधान कारण है। प्रथम 'कामायनी' का समरसता वाला सिद्धांत, दूसरा श्रद्धा का आत्मिक प्रेम। श्रद्धा अन्य साधारण नायिकाओ के समान इतनी आकुल नही है कि उसके विरह-गीत वर्णन करने में कवि को पूरा एक सर्ग लगाना पड़े। समरसता की प्रतीक श्रद्धा यदि विरह-काल मे अपने जीवन में सामंजस्य न लाती तो जीवन की परीक्षा मे खरी कैसे उतरती ? कवि के समरसता वाले सिद्धात का प्रतिपादन कैसे करती ? जिनका प्रेम कायिक होता है वे ही विरह-काल मे अधिक आकुल दिखाई पड़ते है, परन्तु जिनका प्रेम आत्मिक हो गया है,

उनमें आकुलता की अधिकता न हो, तो आश्चर्य ही क्या ।[1]

चिंता तथा निर्वेद सर्गों में जहाँ आन्तर तथा बाह्य दुःखों से [illegible] के प्रति मन की विरक्ति का वर्णन है, वहाँ निर्वेद मुक्ति शान्त है । [illegible] अनुसार जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न कोई चिन्ता हो, न द्वेष-राग हो और न कोई इच्छा ही शेष रह जाए, उसे मुनि शान्तरस कहते है—

न यत्र दु.खं न सुखं न चिन्ता, न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः ।।

'कामायनी' के 'रहस्य' सर्ग मे व्यापक अर्थ मे इसी शांत रस की अभिव्यक्ति हुई है ।

अन्य रसो की भाँति वात्सल्य का भी सम्यक् परिपाक 'कामायनी' में हुआ है । आचार्य विश्वनाथ ने प्रस्फुट चमत्कार के कारण वत्सल रस का स्वतंत्र अस्तित्व निरूपित कर 'वत्सलता-स्नेह' (वात्सल्य) को इसका स्थायी भाव माना है—'स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्' हर्ष, गर्व, आवेग, अनिष्ट की आशंका इत्यादि इसके व्यभिचारी भाव है । मनु के चले जाने पर 'कुमार' की बाल-सुलभ क्रीड़ाएँ ही श्रद्धा के विरह-संतप्त हृदय को शांति प्रदान करती हैं । जब कुमार खेलने के लिए वन मे अधिक दूर चला जाता है, तो श्रद्धा के हृदय मे उसके अनिष्ट की आशका होने लगती है, किन्तु वह उसे मना इसलिए नही करती कि कही वह भी अपने पिता के समान रूठकर न चला जाए । जब 'कुमार' वन में घूमने के उपरान्त लौटकर आता है तो उस समय श्रद्धा की सूनी कुटिया उसकी किलकारियो से गूँज उठती है—

"माँ"—फिर एक किलक दूरागत, गूँज उठी कुटिया-सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी ;
लुटरी खुली अलक, रज-धूसर बाहें आकर लिपट गयीं,
निशा-तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी ।
"कहाँ रहा नटखट ! तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना ?
अरे पिता के प्रतिनिधि, तूने भी सुख-दुख तो दिया घना ।
चंचल तू, बनचर मृग बन कर भरता है चौकड़ी कहीं,
मैं डरती तू रूठ न जाये करती कैसे तुझे मना ?"

१—कामायनी अनुशीलन—डॉ० रामलाल सिंह—(च० सं०) पृ० १२७

इस प्रसंग में शास्त्रीय दृष्टि से श्रद्धा आश्रय और उसका पुत्र 'कुमार' आलम्बन है। कुमार का 'माँ' कहकर किलकारी भरना उद्दीपन, श्रद्धा का उत्कण्ठित होकर उसे गोद मे लेने के लिए दौड़ पड़ना अनुभाव तथा हर्ष-औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं, जिनके संयोग से वात्सल्य रस की निष्पत्ति हुई है।

यद्यपि मनु श्रद्धा के मन में भावी शिशु के प्रति अगाध वात्सल्य को देखकर ही ईर्ष्यावश चले जाते हैं, किन्तु फिर भी जब सारस्वत प्रदेश में उनकी श्रद्धा तथा कुमार से भेंट होती है तो उनके मन मे भी वात्सल्य सहसा जाग्रत हो उठता है—

"यह कुमार मेरे जीवन का
उच्च अंश, कल्याण-कला।
कितना बड़ा प्रलोभन मेरा
हृदय स्नेह बन जहाँ ढला।"

इष्ट-नाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति होने पर करुण रस की अभिव्यक्ति होती है। आचार्य विश्वनाथ ने भी इसी रूप में करुण रस की व्याख्या की है—'इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।' 'कामायनी' के प्रारम्भ में ही करुण के स्थायी भाव शोक की अभिव्यंजना हुई है। हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठे हुए मनु जब महाप्रलय से नष्ट हुई देव-संसृति पर विचार करते है तो उस समय उनके शोक, विषाद, चिंता आदि को देखकर सहृदय को सहज ही करुण रस की अनुभूति होती है। इसमे प्रलय मे नष्ट बन्धु-बान्धव तथा सुख-वैभव के नाना उपकरण आलम्बन है। देवताओं का दम्भ, अनियमित अबाध विलास, सर्वत्र व्याप्त यशादि का स्मरण उद्दीपन है। मनु का प्रलाप, देवो की निन्दा करना आदि अनुभाव हैं। भविष्य की चिंता, विस्मृति जड़ता आदि संचारी भाव है तथा स्थायी भाव शोक है, जिससे करुण रस अभिव्यंजित हुआ है।

'कामायनी' में कवि को वीर रस की अभिव्यक्ति का अधिक अवसर नही मिला है। इसका समुचित परिपाक न होने पर भी इसके स्थायी भाव उत्साह की व्यंजना यत्र-तत्र अनेक स्थानो पर मिलती है। जहाँ श्रद्धा मनु को चिंता, दैन्य आदि को त्यागकर क्रियाशील होने के लिए प्रेरित करती है, वहाँ उसकी उक्तियों में उत्साह अभिव्यंजित होता है—

"और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान—
'शक्तिशाली हो, विजयी बनो'
विश्व में गूँज रहा जय-गान।"

वीर रस के भेदों में से दानवीर, धर्मवीर, दयावीर आदि की अभिव्यक्ति अधिक नही है। 'संघर्ष' सर्ग मे जिस समय असुर-पुरोहित आकुलि और किलात विद्रोही प्रजा के नेता के रूप में सामने आते हैं और मनु उन दोनो को ललकारते हैं, तब उस प्रसंग में परिपुष्ट वीर रस अभिव्यंजित हुआ है—

"कायर ! तुम दोनों ने ही उत्पात मचाया,
अरे, समझ कर जिनको अपना था अपनाया।
तो फिर आओ देखो कैसे होती है बलि,
रण यह, यज्ञ-पुरोहित ! ओ किलात औ' आकुलि !"

'कामायनी' के 'स्वप्न' तथा 'संघर्ष' सर्गो मे रौद्ररस की भी अभिव्यक्ति हुई है। जब मनु इड़ा पर अपना अधिकार करने की चेष्टा करते है तो उस समय प्रकृति-विपर्यय होता है और प्रजा क्रांति कर देती है। मनु इसे प्रजा की अकृतज्ञता समझ कर और भी अधिक क्रोधित हो जाते है। इस प्रसंग में शासन तथा शासित दोनों का अत्याचार एक-दूसरे के लिए उद्दीपन का कार्य करता है। दोनों का एक-दूसरे पर दोषारोपण करना, निंदा करना तथा कठोर वचन बोलना आदि अनुभाव हैं तथा उनके हृदय मे उत्पन्न उग्रता, उत्साह, अमर्ष आदि संचारी भाव है। देवशक्तियो के कोप, प्रकृति के कम्पन्न तथा शिव के नेत्र खोलने आदि के वर्णन द्वारा रौद्र रस और भी अधिक तीव्रता को प्राप्त हुआ है।

भयानक रस की अभिव्यंजना तीन स्थानों पर हुई है - प्रलय वर्णन में, युद्ध-वर्णन में तथा 'रहस्य' सर्ग में। इन प्रसंगों में कवि की प्रमुख विशेषता यह है कि उसने कहीं-कहीं केवल आलम्बन के वर्णन द्वारा ही भयानक रस की सफल अभिव्यक्ति की है।

'कामायनी' में वीभत्स की अभिव्यंजना अधिक नही है। पशु की हत्या के प्रसंग मे इसकी झलक मिलती है—

यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी धधक रही थी ज्वाला,
[illegible] अस्थि-खण्ड की माला

वेदी की निर्मम प्रसन्नता, पशु की कातर वाणी,
मिलकर वातावरण बना था कोई कुत्सित प्राणी।

अद्भुत रस की अभिव्यंजना दो स्थानों पर हुई है—एक तो शिव के ताण्डव नृत्य मे तथा दूसरे त्रिपुर मिलन में। तपस्या में रत मनु जिस समय शिव के अलौकिक ताडव नृत्य का दर्शन करते हैं, तब उस समय सहृदय के चित्त में अदभत की अनुभूति होती है।

शास्त्रीय अर्थ मे 'कामायनी' मे हास्य की कहीं भी परिपुष्ट अभिव्यक्ति नहीं हुई है। श्रद्धा तथा कुमार के प्रसंग में कही-कही विनोदपरक उक्तियाँ अवश्य मिलती है जिनमें 'कुमार' का बाल-सुलभ हास मुखरित हुआ है—

"मैं रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मै सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मै आज नहीं ;
पके फलों से पेट भरा है नींद नहीं खुलने वाली।"
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।

आचार्यों के अभिमतानुसार स्थायी भाव भी अन्य रसो मे संचारी रूप मे आ सकता है—'स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति हासः श्रृंगारे रतिः शान्तकरुण हास्येषु भयशोकौ करुणश्रृंगारयोः क्रोधो वीरे जुगुप्सा भयानके उत्साहविस्मयो सर्वरसेषु—(रसतरंगिणी)।' इसी सिद्धात के आधार पर कतिपय विद्वानों ने 'कामायनी' में अभिव्यक्त हास्य की समीक्षा करते हुए उसे वात्सल्य के सचारी रूप मे स्वीकार किया है।

'प्रसादजी' रस-सिद्ध कवि है। उनकी यह सबसे बड़ी विशेषता है कि कही-कही उन्होने केवल अनुभावों अथवा संचारी भावो के द्वारा ही सफल रसाभिव्यक्ति की है। विवेच्य कृति में कहीं-कही केवल उद्दीपन के चित्रण द्वारा ही शांत रस अभिव्यंजित हुआ है। 'लज्जा' सर्ग के अन्तर्गत लज्जा नामक संचारी भाव का कवि ने इतना विशद एवं तीव्र चित्रण किया है कि केवल उसी से श्रृंगार की सहज अनुभूति सहृदय को होने लगती है। कही-कहीं केवल आलम्बन के यथातथ्य वर्णन के द्वारा ही भयानक रस की निष्पत्ति हुई है।

रसनिष्पत्ति के लिए अपेक्षित पूर्ण औचित्य के आंशिक अभाव मे जब सहृदय को रस के आभास की प्रतीति हो अथवा रस-परिपाक न होकर रस केवल आभासित होकर ही रह जाय, उस अवस्था में प्राचीन आचार्यों द्वारा 'रसाभास' की स्थिति मानी गई है। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक लोचन' में

रसाभास को 'शुक्तौ रजताभासवत' अर्थात् सीपी मे रजत के आभास जैसा बताया है।[1] इस दृष्टि से 'कामायनी' मे इड़ा और मनु का प्रेम-प्रसंग रसाभास ही कहा जा सकता है। वहाँ स्थायी भाव रति की तो अभिव्यक्ति हुई है किन्तु वह परिपुष्ट होकर शृंगार रस की कोटि को नही पहुँच पाया है। कतिपय विद्वानो के अनुसार मनु की ईर्ष्या भी सहृदय जनो को अनुचित प्रतीत होने के कारण रसाभास ही कही जा सकती है।

अंगीरस

प्रवन्ध-काव्य के लिए शास्त्रीय नियमों का निर्धारण करते हुए संस्कृत-आचार्यो ने कहा है कि उसमें व्यञ्जित नाना रसो में से एक अगीरस होना चाहिए। आचार्य भरत के अनुसार महाकाव्य मे जो रस प्रधान रूप से विद्यमान रहता है, वह रस स्थायी या अंगी और शेष रस संचारी या अंगभूत होते है—

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्‌बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः॥

'ध्वन्यालोक' के प्रणेता आचार्य आनन्दवर्धन ने भी प्रबन्धकाव्य में अंगीरस की योजना को आवश्यक मानते हुए कहा है कि--

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नाना रस निबन्धने।
एको रसोऽङ्गी कर्त्तव्यः।

आचार्यों के अभिमतानुसार अंगीरस के प्रमुख तीन लक्षण हैं—

(क) वहुव्याप्ति अर्थात् वह कथा के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक किसी-न-किसी रूप मे अवश्य विद्यमान रहता है तथा अन्य रस उसका पोषण करते हैं— 'प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन्. पुनरनुसंधीयमानत्वेन स्थायी यो रसः— (ध्वन्यालोक)।'

(ख) अंगीरस का सम्बन्ध कवि की मूल संवेद्य भावना से भी होता है, जिसकी अभिव्यक्ति कथा के प्रमुख पात्र द्वारा होती है।

(ग) आधुनिक आचार्य डॉ० नगेन्द्र के अभिमतानुसार "अंगीरस मूल उद्देश्य या फलागम का आस्वाद रूप होता है, या दूसरे शब्दों में सारभूत प्रभाव का अभिव्यंजक होता है।"

आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट शास्त्रीय नियमों को दृष्टिगत रखते हुए जब हम

१—हिन्दी साहित्य-कोश, पृष्ठ ६३४

सामरस्य-रूप व्यापक, अखण्ड आनन्द रस की दो सीमाओं के रूप मे स्वीकार किया है। डॉ० नगेन्द्र के अभिमतानुसार कामायनी में भी पूर्वार्द्ध मे शृंगार और उत्तरार्द्ध मे शान्त रस के प्राधान्य का यही रहस्य है। शास्त्रीय दृष्टि से इस मूल रस अथवा आनन्द रस का सम्बन्ध कवि की मूल संवेद्य भावना से भी है। अन्य रस इसके पोषक है। सामरास्य की प्रतीक श्रद्धा से भी इसका सम्बन्ध है। कथा के अन्त मे मनु फलागम के रूप मे इसी आनन्द की अनुभूति करते हैं—

"समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखण्ड घना था।"

इस प्रकार मूल शान्त रस या आनन्द रस (शैवदर्शन में प्रतिपादित सामरस्य) ही कामायनी का अंगीरस है। किन्तु इसके आस्वादन के सम्बन्ध में एक शंका उपस्थित होती है, जिसकी ओर आचार्य नगेन्द्र ने संकेत किया है कि "सामरस्य तो आध्यात्मिक सिद्धि है, समरस आत्मा ही उसका आस्वादन कर सकती है—रागद्वेष से लिप्त जन-सामान्य के लिए वह कैसे सम्भव है?" इस शंका का सरल, स्पष्ट समाधान यह है कि सासारिक जीवन में तो मनुष्य की चेतना राग-द्वेष से उद्वेलित रहती है, किन्तु रसास्वाद की स्थिति मे मनुष्य का चित्त वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है, जिसे शुक्लजी ने 'हृदय की मुक्तावस्था' और आई० ए० रिचर्ड्स 'ने अन्तर्वृत्तियों का समंजन' कहा है और इस प्रकार की मुक्त, निर्द्वन्द्व मनःस्थिति में निश्चय ही सहृदय 'सामरस्य' के प्रत्यक्ष अनुभव के बिना भी कामायनी के इस अंगीरस की—अखंड आनन्द की सहज अनुभूति कर सकता है। निष्कर्ष रूप मे हम आचार्य नगेन्द्र के शब्दो मे कह सकते है कि—'कामायनी' का अंगीरस भारतीय रस-सिद्धान्त का आधारभूत आनन्द रस ही है, जिसका दूसरा नाम मौलिक अर्थ मे शान्त भी है। यही 'कामायनी' के वस्तु-विधान, प्रतिपाद्य तथा रूप-विधान के अनुकूल है। यही 'प्रसाद' के काव्य-दर्शन के अनुकूल है, जिसके अनुसार काव्य, आत्मा की सकल्पात्मक अभिव्यक्ति का नाम है—शृंगार, शान्त आदि काव्यशास्त्रीय रस-विकल्पों की अपेक्षा संकल्पात्मक आनन्दरस की ही सगति उपर्युक्त काव्य-लक्षण के साथ ठीक बैठती है।'

प्रश्न ६— 'कामायनी' में अंकित मनु, श्रद्धा तथा इड़ा के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए 'प्रसाद' जी की चरित्र-चित्रण सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—महाकाव्य के विस्तृत कलेवर में पात्रों का चरित्र-विकास अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। विभिन्न पात्रों की अन्तर्वृत्तियों का सफल चित्रण करके प्रतिभा-सम्पन्न कवि अपने काव्य में सजीवता उत्पन्न करता है। भारतीय काव्यशास्त्र की अपेक्षा पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे चरित्र-चित्रण को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया गया है। पात्रों के नाना क्रिया-कलापो के द्वारा ही मूलकथा चरमोत्कर्ष (Climax) तक पहुँचती है। नायक और खलनायक (Villain) की सद्-असद् प्रवृत्तियों के मध्य होने वाले संघर्ष के द्वारा मानव-जीवन के विविध रहस्यों का उद्घाटन होता है। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में सर्वाधिक महत्त्व रस को दिया गया है। पात्रों का चरित्र-चित्रण तो रसाभिव्यक्ति का साधन-मात्र है स्वयं में साध्य नही है। 'प्रसाद' जी के अनुसार 'आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र-वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्यो को रस का साधन मानता रहा, साध्य नही।...सब प्रकार के भाव एक-दूसरे के पूरक बनकर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर, रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।'[1]

मनु

'कामायनी' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधृत भाव-प्रधान कलात्मक महाकाव्य है। उसमे पात्रों एवं घटनाओ का बाहुल्य नही है। मनु, श्रद्धा तथा इड़ा—इन तीन पात्रों का ही चरित्र-चित्रण विशेष रूप से हुआ है। अरस्तू ने महाकाव्य के पात्रों के विषय मे केवल इतना ही कहा है—'त्रासदी के समान इसमे भी उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है।' 'प्रसादजी' की यह विशेषता है कि उन्होने 'कामायनी' मे कथानक के अनुरूप उदात्त चरित्रो की योजना की है। मनु इसके नायक है। इनका उल्लेख वेदो, उपनिषदो तथा पुराणों मे अनेक स्थानों पर मिलता है। 'प्रसादजी' ने मनु को

१— काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध—प्रसाद, पृ० ८४

ऐतिहासिक पात्र मानते हुए कहा है कि—"श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को, रूपक के आवरण में, चाहे पिछले काल मे मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो जैसा कि सभी वैदिक इतिहासों के साथ निरुक्त के द्वारा किया गया, किन्तु मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्त्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गई है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।"[1] ऋग्वेद में अनेक स्थान पर मनु का उल्लेख 'मानवों का प्रकृष्ट बुद्धि वाला पिता'; 'मानवों में अग्रगण्य', 'उनमें सर्वप्रथम यज्ञकर्त्ता' आदि के रूप में मिलता है। अथर्ववेद में वैवस्वत मनु को मानवों के स्वभाव का विज्ञाता, मननशील, पृथ्वी का विस्तारक, रक्षक तथा शासक कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में उन्हें श्रद्धा-देव कहा गया है—'श्रद्धादेवो वै मनुः' और बताया गया है कि श्रद्धा और मनु के द्वारा ही जल प्लावन के उपरान्त देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति की प्रतिष्ठा हुई—

"मनवे ह्वं प्रातः। अवनेग्य मुदकमाजहुर्यवेदं पाणीभ्यामलने।
जनायाहरन्त्येवं तस्यावने निजानस्य मतस्यः पाणीऽआपेदे ॥"

भागवत में भी इन्हीं वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है—

"ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान् ॥"

'प्रसादजी' ने ऐतिहासिक मनु को आधार रूप में ग्रहण करते हुए महाकाव्य के नायक के रूप में उसके चरित्र का विकास किया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य का नायक कोई देवता अथवा कुलीन क्षत्रिय होना चाहिए, जिसके व्यक्तित्व में धीरोदात्त गुणों का समावेश हो—

सर्गबन्धो महाकाव्य तत्रैका नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वाऽपि धीरोदात्तगुणान्वितः ॥

दशरूपककार धनंजय ने धीरोदात्त नायक के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि वह मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, युवा, उत्साही, पराक्रमी, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु और धार्मिक होता है—

१—कामायनी—आमुख, पृ० ३

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ।।
बुद्ध्युत्साहस्मृति प्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ।।

भारतीय आचार्यों द्वारा नायक के लिए निर्दिष्ट गुणों को दृष्टिगत रखते रखते हुए जब हम मनु के चरित्र का विश्लेषण करते हैं, तो हम देखते है कि उनके व्यक्तित्व का विकास विविध दिशाओं में हुआ है । पुराणों में मनु के व्यक्तित्व के दो रूप मिलते हैं—एक तो स्मृतिकार मनु का व्यक्तित्व और दूसरे मानव सृष्टि के निर्माता के रूप में मनु का व्यक्तित्व । 'कामायनी' मे 'प्रसादजी' ने उनके व्यक्तित्व के दोनों ही रूपों का चित्रण किया है । डॉ० फतहसिंह के मतानुसार 'मनु का पहला प्रजापति रूप है, जो 'कामायनी' मे भी 'मनु-इड़ा-युग' में मिलता है, दूसरा वैदिक-कर्मकांडी ऋषि रूप है, जो यहाँ जलप्लावन से 'श्रद्धा त्याग' तक माना जा सकता है और जिसके दो पहलू है—पहला तपस्वी मनु का, जो 'किलाताकुली' के आने से पूर्व मिलता है, दूसरा 'हिंसक यजमान' मनु का जो असुर-पुरोहितों के आगमन के पश्चात् पाया जाता है, परन्तु प्रजापति तथा ऋषि के अतिरिक्त 'कामायनी' के मनु का तीसरा रूप और भी है, जो 'मनु-इड़ा-युग' के अन्त होने पर आनन्दपथ को खोजते हुए मनु में देखा जा सकता है । यह प्रथम पथ-प्रदर्शक मनु का रूप है ।'[1]

'कामायनी' के प्रारम्भ मे मनु के देव रूप का चित्रण किया गया है । जब देवताओं के नित्य उन्मत्त विलास के कारण महाप्रलय मे देव-संसृति पूर्णतः नष्ट हो गई तो उस समय उस अमरता के भीषण-जर्जर जीवित दम्भ के रूप में मनु ही शेष रहे । सौभाग्यवश उस जलप्लावन से सुरक्षित बचकर हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठे हुए, देवताओं के उस तिरोहित मधु से पूर्ण अनंत वसंत के चिन्तन मे लीन मनु के रूप का स्वाभाविक चित्रण 'प्रसादजी' ने किया है । उनके शरीर की मांस-पेशियां अत्यन्त सुदृढ़ थीं, जिनमें स्वस्थ रक्त संचरण कर रहा था । अनेक प्रकार की चिन्ताओं से ग्रस्त होते हुए भी उनका मुखमण्डल असीम पौरुष से देदीप्यमान था—

१ — 'कामायनी-सौन्दर्य'—डॉ० फतहसिंह

अवयव की दृढ़ मांसपेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।
चिन्ता कातर बदन हो रहा पौरुष जिसमें ओत-प्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता भीतर मधुमय स्रोत।

देव संस्कृति के मनु के चित्रण के उपरान्त 'कामायनी' मे मनु के ऋषि रूप का अंकन किया गया है। इसी समय उन्हें ज्ञात होता है कि देवताओं की मिथ्या अहंकार भावना तथा असीम काम-वासना के कारण ही जलप्लावन हुआ। इससे उनका अमरता का दम्भ नष्ट हो जाता है, जिससे उन्हे एक अज्ञात विराट-शक्ति मे विश्वास होने लगता है। वैदिक ऋषियों की भाँति वे भी 'हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम।' कहकर उस अज्ञात सत्ता का स्मरण करते है। उस विराट्-शक्ति की प्रतीति होने पर वे अग्निहोत्र, पाकयज्ञ आदि भी करते हैं।

श्रद्धा के संसर्ग मे आने के पश्चात् मनु वासनायुक्त एक साधारण व्यक्ति की भाँति विलासिता एव कामुकता के प्रतीक रूप मे सामने आते है। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण मे विचरण करते हुए चन्द्र-ज्योत्स्ना से धवलित निशीथ को देखकर उनके मन मे अनादि वासना उदबुद्ध हो जाती है और वे असह्य काम-पीड़ा एवं वेदना का अनुभव करने लगते है। वे श्रद्धा के सामने प्रणय-निवेदन करते है और सहज विश्वासमयी श्रद्धा उनकी प्रणय-भावना से अभिभूत होकर आत्म-समर्पण कर देती है। मनु का यह रूप उनके ऋषि रूप से नितांत भिन्न है। देवताओ के निर्बाध विलास के कारण ही महाप्रलय हुई—मनु इस तथ्य को भूल जाते है; श्रद्धा भी उन्हे इन्द्रिय-सुख की असत्यता का ज्ञान कराती है, किन्तु फिर भी उनकी कामाग्नि शात नही होती और गर्भवती श्रद्धा की अभिरुचि शिशु की ओर देखकर वे उनकी ओर से उदासीन हो जाते है, यहाँ तक कि वे अपने भावी शिशु 'कुमार' से भी ईर्ष्या करने लगते है। वे सदैव यही चाहते है कि श्रद्धा के द्वारा उन्हे भौतिक सुख की अबाध प्राप्ति होती रहे। उनके और श्रद्धा के मध्य कोई भी व्यवधान उपस्थित न हो—

"यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार !
केवल मेरी ही चिन्ता का
तव चित्त वहन कर रहे भार !"

"मेरा सुन्दर विश्वास बना
सृजता हो मधुमय विश्व एक;
जिसमें बहती हो मधु धारा
लहरें उठती हों एक-एक।"

मनु के इस वासनायुक्त रूप के साथ ही उनका 'हिंसक-यजमान' का रूप भी दृष्टिगत होता है। असुर-पुरोहित आकुलि-किलात की प्रेरणा से वे यज्ञ करते हैं और उसमे श्रद्धा द्वारा पालित निरीह पशु की वलि भी देते है। श्रद्धा को इससे अत्यन्त दुःख होता है और वह इसका विरोध भी करती है। किन्तु अपने पुराने संस्कारों के जाग्रत हो जाने के कारण मास, सुरा, सोम आदि मे आसक्त होकर वे नित्य-नित्य कर्मकाण्ड मे लीन रहते हैं। श्रद्धा द्वारा उनके हिंसक कार्यों का विरोध होने पर उनकी तृष्णा, इन्द्रिय-सुख की लालसा अहंकार, ईर्ष्या आदि और भी अधिक बढ जाते हैं। अपनी अतृप्त वासनाओं की पूर्ति के लिए वे ईर्ष्यावश आसन्न-गर्भा श्रद्धा को भी—'मन की परवशता महा-दुःख, मैं यही जपूँगा महामंत्र!'—कहकर चले जाते हैं।

इसके पश्चात् मनु के प्रजापति रूप का उद्घाटन किया गया है। श्रद्धा का परित्याग कर मनु सारस्वत प्रदेश मे पहुँचते है, जहाँ उनकी भेट 'नयन, महोत्सव की प्रतीक' इड़ा से होती है। वह अपने तर्कयुक्त विचारो के द्वारा परम रमणीय, अखिल ऐश्वर्य से युक्त, शोधक-विहीन प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए मनु को कर्म करने की प्रेरणा देती है। उसी के उपदेशानुसार मनु सारस्वत प्रदेश का विकास करते हे। उजड़े हुए उस प्रदेश में भव्य प्रासादो का पुनर्निर्माण होता है। विज्ञान की सहायता से यान्त्रिक सभ्यता अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाती है। भौतिक सुख-समृद्धि का सर्वत्र विस्तार होता है। भारतीय पुराणो मे 'प्रजापति' शब्द का प्रयोग पिता, ब्रह्मा तथा राजा के लिए हुआ है। 'कामायनी' में भी अनेक स्थान पर मनु को प्रजापति कहा गया है, किन्तु सर्वत्र इस शब्द का प्रयोग केवल नियामक राजा के अर्थ में ही हुआ है—

"प्रजा तुम्हारी; तुम्हें प्रजापति सबका ही गुनती हूँ मैं,
यह संदेह भरा फिर कैसा नया प्रश्न सुनती हूँ मैं।"
'आह प्रजापति यह न हुआ है, कभी न होगा।
निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा?"

भारतीय पुराणों में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि एक बार प्रजापति ने अपनी दुहिता के साथ अनैतिक व्यवहार किया, जिससे वे देव-रोष के भागी बने। 'कामायनी' में मनु इड़ा पर अपना अधिकार करना चाहते हैं जिसके परिणामस्वरूप प्रजा विद्रोह कर देती है और संघर्ष की सृष्टि होती है। किन्तु 'प्रसादजी' ने अपने नायक के गौरव की रक्षा के लिए मनु और इड़ा के पिता-पुत्री सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया है। 'कामायनी' में केवल इतना ही संकेत मिलता है कि प्रजा होने के कारण ही इड़ा मनु की पुत्री के समान थी—
'अरी आत्मजा! प्रजा पाप की परिभाषा बन शाप उठी।'

मनु के व्यक्तित्व का चरमोत्कर्ष उस समय दिखाई देता है जबकि वे श्रद्धा के सहयोग से सामरस्य की अवस्था में अखण्ड आनन्द की प्राप्ति करते हैं। जिस समय मनु प्रजा के साथ संघर्ष में क्षत-विक्षत होकर मूर्च्छित हो जाते हैं, उस समय श्रद्धा आकर उन्हें सचेत करती है और उन्हें अपने साथ कैलाश-शिखर की ओर ले जाती है जहाँ पहुँचकर उन्हें इच्छा, क्रिया और ज्ञान का रहस्य ज्ञात होता है। श्रद्धा उन्हें भावलोक, कर्मलोक तथा ज्ञानलोक का रहस्य समझाते हुए कहती है, कि इन तीनों वृत्तियों के पार्थक्य के कारण ही जीव नाना प्रकार के क्लेशों को भोगता है। जब इन तीनों में सामंजस्य स्थापित होता है तब मनुष्य को वास्तविक सुख एवं शान्ति का अनुभव होता है। अन्त में श्रद्धा के द्वारा ही भावलोक, कर्मलोक और ज्ञानलोक—इन तीनों लोकों का समन्वय हो जाता है, जिससे मनु समरसता की स्थिति में शिवत्व की प्राप्ति करते है। इस अवस्था मे उनके हृदय की स्वार्थ, इन्द्रिय-लिप्सा, काम-वासना, लोभ आदि सभी पाशव-वृत्तियाँ तिरोहित हो जाती है जिससे उन्हें जड़-चेतन मे एक ही चेतना विलास करती हुई प्रतीत होती है और वे पूर्ण अद्वैत-भावना का अनुभव करते हैं। उन्हे यह समस्त संसार उस विश्वात्मा के विराट् शरीर के रूप में 'सत्य, सतत चिर सुन्दर' दिखाई देता है।

भारतीय आचार्यों ने नायक के जिन गुणों का उल्लेख किया है, उन गुणों को दृष्टिगत रखते हुए हम मनु को धीरोदात्त नायक नहीं कह सकते। उनके चरित्र मे अनेक मानव-सुलभ दुर्बलताएँ एवं दुर्गुण दिखाई देते है। इसका कारण यह है कि प्रतीकार्थ मे मनु मन के प्रतीक है; मनु की कथा के माध्यम से मानव-मन के विकास को व्यजित किया गया है और इस रूपक के सफल निर्वाह के लिए मनु के चरित्र के अन्तर्गत काम, वासना, ईर्ष्या आदि का चित्रण

आवश्यक था। चिंताग्रस्त और नाना प्रकार के दु:खों से युक्त मनु के चित्रण द्वारा निम्नतम अन्नमय कोश में स्थित जीव की स्थिति अभिव्यक्त की गई है जहाँ से वह क्रमशः उन्नति करता हुआ अन्त में शाम्भव स्थिति को प्राप्त करता है। मनु के चरित्र में मानव-सुलभ दुर्बलताओं को दिखाने का एक अन्य कारण यह भी है कि 'प्रसादजी' अपने पात्रों को अतिमानवीय नही बनाना चाहते। वे यथार्थ के धरातल पर आदर्श की स्थापना करना चाहते है। इसलिए उन्होंने नायक के रूप में मनु का चित्रण परम्परागत दृष्टि से नही किया है। जीवन और जगत् में सर्वत्र व्याप्त सुख और दुःख दोनों के यथार्थ चित्रण की पृष्ठभूमि में उन्होने मनु के व्यक्तित्व का निर्माण किया है। 'प्रसादजी' के अभिमता-नुसार—'यथार्थवाद की विशेपताओ में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दु:ख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है 'साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दु:ख और अभावो का वास्तविक उल्लेख।' 'प्रसादजी' ने रूपक के निर्वाह के साथ-साथ अतीत के धरातल पर वर्तमान युग की समस्याओं को भी प्रस्तुत किया है। इसीलिए मनु के जीवन में व्याप्त दु ख, अभाव तथा नैराश्य आदि का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के मतानुसार हम मनु को वर्तमान संघर्षात्मक युग का प्रतिनिधि कह सकते है, जो जीवन के वैषम्यो से खिचकर अनेक दिशाओ मे दौड़ता है, किन्तु कही भी शान्ति नही पाता। मनु के जीवन मे संकल्प-विकल्प की प्रधानता है, सुख और दु:ख का सम्मिश्रण है। वह जीवन के किसी निर्णीत आधार को लेकर नही चला। 'कामायनी' में अंकित मनु के व्यक्तित्व का विश्लेषण करने के उपरान्त इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'प्रसादजी' ने उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व की यथासम्भव रक्षा की है। शास्त्रीय दृष्टि से धीरोदात्त न होते हुए भी उनके व्यक्तित्व मे नायक के अनेक गुण सहज उपलब्ध है। उनके जीवन मे व्याप्त 'लघुता' (दु ख और अभाव) का यथार्थ चित्रण करके उसके आधार पर अन्त मे आदर्श की स्थापना की गई है।

श्रद्धा

'कामायनी' की नायिका श्रद्धा है। मनु की भांति वह भी ऐतिहासिक पात्र है। ऋग्वेद में श्रद्धा का उल्लेख ऋषि तथा देवता के रूप में मिलता है—

है कि उसके शिशु को पशु जैसा जीवन व्यतीत न करना पड़े। इसीलिए वह पुआलों के छोटे से छाजन तथा वेतसी लता के झूले सहित एक कुटीर का निर्माण करती है। ईर्ष्यावश मनु के सारस्वत प्रदेश चले जाने पर वह आदर्श-गृहिणी के रूप में अपने पुत्र 'कुमार' का एकाकी ही समुचित पालन-पोषण करती है। अपने इस रूप मे वह मातृत्व की साक्षात् मूर्ति भासित होती है। मनु जब सारस्वत प्रदेश चले जाते हैं, तब श्रद्धा पहले एक विरहिणी के रूप मे दिखाई देती है। उसकी कुटिया सूनी हो जाती है और उसके जीवन मे शून्यता, अभाव तथा नैराश्य व्याप्त हो जाता है। किन्तु जब उसकी सूनी कुटिया में कुमार की किलक-भरी आवाज गूंजती है, तब वह शून्यता और अभाव का परित्याग कर पुनः उत्कंठित हो उठती है—

"माँ"—फिर एक किलक दूरागत, गूँज उठी कुटिया सूनी;
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी।
लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाहें आकर लिपट गयीं।
निशा-तापसी के जलने को धधक उठी बुझती धूनी।

'प्रसादजी' ने श्रद्धा के चरित्र द्वारा भारतीय नारी के नारीत्व की अभि-व्यंजना की है। उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व में नारी-सुलभ दया, ममता, विश्वास, क्षमा आदि सभी उदात्त गुणों का समावेश किया गया है। उसके चरित्र का उज्ज्वलतम रूप उस समय दिखाई देता है जब वह मनु के साथ कैलाश पर्वत की यात्रा करती है, जहाँ पहुंचकर वह इच्छा, क्रिया और ज्ञान तीनों का समन्वय करती है जिससे मनु सामरस्य की अवस्था में शिवत्व की प्राप्ति करते हैं। श्रद्धा के इस रूप का चित्रण शैवागमों एवं उपनिषदों के आधार पर किया गया है। तंत्रालोक में इच्छा, ज्ञान और क्रिया को त्रिपुर माना गया है और इसकी अधिष्ठात्री त्रिपुरादेवी कही गई है — जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव-रूप है। 'त्रिपुरा-रहस्य' में श्रद्धा को ही त्रिपुरादेवी माना गया है, जिसके द्वारा त्रिपुरों में सामंजस्य स्थापित होता है। 'कामायनी' मे इसी श्रद्धा के सहयोग से मनु अखण्ड आनन्द की अनुभूति करते हैं।

इड़ा

'कामायनी' की तीसरी प्रमुख पात्र इड़ा है, जिसके चरित्र का विकास बुद्धि के प्रतीक रूप मे किया गया है। ऋग्वेद में उसे मनु की पथ-प्रदर्शिका

तथा मनुष्यों का शासन करने वाली कहा गया है—'इड़ामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम्।' अथर्ववेद मे उसका उल्लेख प्रजा को सुख देने वाली तथा राष्ट्र की संरक्षिका के रूप में मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में इड़ा को अन्न-प्रदायिनी और पशु-वृद्धि करने वाली कहा गया है—'इड़ा..........अन्नं यजमाने दधाति, पशुन् यजमाने दधाति।' लौकिक संस्कृत में इड़ा शब्द पृथ्वी अर्थात् बुद्धि, वाणी आदि का पर्यायवाची है--'गो भू वाचस्त्विड़ा इला'—(अमर)। 'कामायनी' में वह ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न, सुसम्य, 'नयन महोत्सव की प्रतीक' 'अम्लान नलिन की नव माला' के रूप में दृष्टिगत होती है। मनु भी उसके आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होते है। 'प्रसादजी' ने इड़ा सर्ग में उसके व्यक्तित्व का प्रतीकात्मक चित्र अंकित किया है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल।
वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म पलाश चषक-से दृग देते अनुराग विराग ढाल।
गुंजरित मधुप-से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान,
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान।
था एक हाथ में कर्मकलश वसुधा जीवन-रस सार लिए।
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिए।
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल।
चरणों में थी गति भरी ताल।

इड़ा स्पष्ट रूप से बुद्धिवाद के अतिरेक की प्रतीक है। मनु उसी के निर्देशानुसार सारस्वत प्रदेश का पुनर्निर्माण करते है। मनु को उपदेश देती हुई वह कहती है कि मनुष्य को केवल बुद्धि के आधार पर ही अपना विकास करना चाहिए। उसी की प्रेरणा से वह जड़ता को भी चैतन्य बनाकर असीम शक्ति का संचय कर सकता है। विज्ञान की सहायता से मनुष्य निरन्तर उन्नति करते हुए अपना यश अखिल लोक में प्रसरित कर सकता है--

"हाँ तुम ही हो अपने सहाय!
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय?
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य-भरी शोधक-विहीन,
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन,
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता!

तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता !
तुम जड़ता को चैतन्य करो, विज्ञान सहज साधन उपाय ।
यश अखिल लोक में रहे छाय ।"

इडा के इस उपदेश को ग्रहण करके मनु जीवन-क्षेत्र में अग्रसर होते हैं और इससे सारस्वत प्रदेश में सर्वत्र भौतिक सुख-ऐश्वर्य का विस्तार होता है—

इड़ा अग्नि ज्वाला-सी आगे जलती है उल्लास भरी,
मनु का पथ आलोकित करती विपद नदी में बनी तरी ।

ऐतिहासिक दृष्टि से वह सारस्वत प्रदेश की रानी है। श्रद्धा ने कृषि-प्रधान सभ्यता को विकसित करने का प्रयास किया किन्तु मनु ने उसमे सहयोग नही दिया। परन्तु जब इड़ा विज्ञान पर आधृत यांत्रिक सभ्यता का विकास करने की प्रेरणा देती है तो मनु उसमे पूर्ण सहयोग देते हैं। वह मनु को शासक बनाती है, जिससे दृढ़ प्राचीरों, मंदिरों, विशाल प्रासादों तथा नाना प्रकार के आभूषणों एवं अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण होता है। इसके साथ-ही-साथ श्रम का भी उचित विभाजन होता है। जब मनु इड़ा के साथ अनैतिक आचरण करने की चेष्टा करते है, तो सारस्वत प्रदेश की समस्त प्रजा अपनी रानी की रक्षा के लिए विद्रोह कर देती है।

इड़ा का चरित्रांकन विलासिता की प्रेरक शक्ति के रूप में भी हुआ है। एक सफल शासक के रूप मे सारस्वत प्रदेश के विकास में पूर्णतया लीन मनु के मन को सहसा वह अपने अनुपम रूप-सौन्दर्य के प्रति आकर्षित कर लेती है तथा उन्हें मदिरा के चषक पिलाकर विलासिता की ओर प्रेरित करती है, जिसके फलस्वरूप मनु की अतृप्त काम-वासना उद्‌बुद्ध हो उठती है और वे उन्मत्त होकर सोचते है कि इड़ा पर भी उनका अधिकार होना चाहिए—

मैं शासक मैं चिर-स्वतंत्र, तुम पर भी मेरा।
हो अधिकार असीम सफल जीवन हो मेरा।

इडा पर अधिकार करने की इस चेष्टा के कारण ही मनु क्षत-विक्षत हो जाते हैं और एक प्रकार की मानसिक प्रलय होती है। इड़ा के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विलासिता की प्रेरक शक्ति होने पर भी वह लोकधर्म तथा लोकमर्यादा के प्रति पूर्णतः जागरूक रहती है। मनु द्वारा आलिङ्गन-पाश में बद्ध किए जाने पर भी वह धैर्यपूर्वक कहती है—

ताल ताल पर चलो, नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।

इड़ा को बुद्धि के प्रतीक रूप में ग्रहण करने पर भी 'प्रसादजी' ने उसके चरित्र में दया, ममता, क्षमा आदि अनेक गुणों का समावेश किया है। यही कारण है कि श्रद्धा की भाँति इड़ा का भी व्यक्तित्व अपेक्षित वैभव एवं गरिमा-से मंडित है। नारी-सुलभ कोमलता एवं सहृदयता के कारण ही उसका हृदय संघर्ष में क्षत-विक्षत मनु को देखकर द्रवित हो उठता है। मनु द्वारा बलात्कार की चेष्टा किए जाने पर भी उसमें प्रतिशोध की भावना उत्पन्न नहीं होती। वह श्रद्धा से भी उनका सुहाग छीनने के अपराधस्वरूप क्षमा-याचना करती है। श्रद्धा द्वारा यह कहने पर कि 'सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय, तू विकल कर रही है अभिनय' से उसे वास्तविकता का बोध होता है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार इड़ा का चरित्र प्रारम्भ में अत्यधिक शक्तिशाली, गतिशील (Dynamic) है। पर्वत की उत्तुंग शैलो से गिरने वाले झरने के समान प्रवल, तीव्र और कलकलनादयुक्त। बाद मे वह समतल भूमि पर बहने वाली स्रोतस्विनी के समान शांत स्निग्ध हो जाती है। बुद्धिवाद का प्रभाव न्यून होकर हार्दिकता की मात्रा अधिक हो जाती है।'[1]

इडा के चरित्र का पूर्ण विकास उस समय दिखाई देता है, जबकि वह 'कुमार' के सहयोग से सारस्वत प्रदेश पर शासन करती हुई सर्वत्र समरसता के आधार पर सुख-शांति एवं वैभव का प्रसार करती है। कालान्तर मे वह प्रजा सहित कैलाश-गिरि की भी यात्रा करती है, जहाँ पहुँचकर वह सोमलता से आवृत्त अर्थात् विभिन्न भोगों से युक्त धर्म के प्रतिनिधि वृषभ का उत्सर्ग करके प्रजा सहित अखंड आनन्द का अनुभव करती है।

अन्य पात्र

कुमार : श्रद्धा-मनु के पुत्र कुमार तथा आसुरी वृत्तियों के प्रतीक असुर पुरोहित किलात-आकुलि का चरित्र-विकास 'कामायनी' मे अधिक नही हुआ है। भारतीय पुराणो मे मनु के दस पुत्रों का उल्लेख मिलता है किन्तु 'प्रसादजी' ने कथानक की दृष्टि से 'कामायनी' में श्रद्धा एवं मनु के केवल एक ही पुत्र 'कुमार'

१—कामायनी दर्शन—पृ० १७६.

का उल्लेख किया है, जिसका कि नामकरण संस्कार भी नहीं हुआ है। 'स्वप्न' सर्ग में वह नटखट बालक के रूप मे दृष्टिगत होता है। अपने सहज चापल्य एवं औत्सुक्य के कारण वह कभी-कभी घूमते हुए वन में दूर-दूर तक चला जाता है। किन्तु श्रद्धा उसे इसलिए नही डाँटती कि कही अपने पिता मनु के समान रूठ कर न चला जाए। अपनी माता, श्रद्धा के साथ सारस्वत प्रदेश मे पहुंचकर जब उसे ज्ञात होता है कि मूर्च्छित अवस्था में पड़े हुए मनु ही उसके पिता हैं तो उस समय उसके मन में अगाध पितृ-प्रेम उद्बुद्ध हो जाता है। पिता के उपचार के लिए वह माँ को शीघ्र ही पानी लाने के लिए कहता है। जब ग्लानिवश मनु पुनः श्रद्धा को छोड़कर चले जाते है तो उसे भी पितृ-वियोग सहन करना पड़ता है। परन्तु फिर भी वह अत्यन्त दृढतापूर्वक अपनी माँ से कहता है कि तू क्यों सदैव इतनी उदास रहती है, क्या मैं तेरे पास नही हूं—

'माँ! क्यों तू है इतनी उदास,
क्या मैं हूँ तेरे नहीं पास;
तू कई दिनों से यों चुप रह,
क्या सोच रही है? कुछ तो कह,
यह कैसा तेरा दुःख दुसह,
जो बाहर-भीतर देता वह,
लेती ढीली सी भरी साँस,
जैसे होती जाती हताश।'

कुमार का चरित्र पूर्ण विकसित मावन-व्यक्तित्व को अभिव्यंजित करता है। उसमें पिता की मननशीलता के साथ-साथ श्रद्धा के विश्वास एवं राग तथा इड़ा की तर्कमयता का भी समावेश है। इसके साथ ही वह अपनी माता का अनन्य भक्त भी है। मनु की पुनः खोज मे जाते समय जब श्रद्धा उसे कहती है कि—'तुम यही रहकर इड़ा के सहयोग से राष्ट्र-नीति देखो। यह तर्कमयी है और तू श्रद्धामय है। इसलिए तुम इसके साथ रहकर समरसता का प्रसार करो, जिससे मानव का यश सर्वत्र प्रसरित हो सके', तो उस समय उसे असह्य दुःख होता है। किन्तु फिर भी वह अपनी माता के आदेश को यथावत् स्वीकार कर लेता है। अन्त में वह इड़ा और अपनी प्रजा के साथ कैलाश-शिखर पर अपने माता-पिता के पास जाता है और वहाँ उनके सन्निध्य में प्रजा सहित अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है।

किलात-आकुलि

असुर-पुरोहित किलात-आकुलि को ऋग्वेद में छल-कपट से युक्त, मायावी तथा यज्ञ मे पशुओं की बलि देने वाले कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण तथा तांड्य ब्राह्मण मे इनका उल्लेख मनु को यज्ञ कराने वाले असुर-पुरोहितो के रूप में भी मिलता है। 'कामायनी' के 'कर्म' सर्ग में ये दोनों जलप्लावन से बचकर इधर-उधर भटकते हुए दिखाई देते हैं। श्रद्धा के हृष्ट-पुष्ट तथा मांसल पशु को देखकर इनके मन में मास-भक्षण की स्वाभाविक इच्छा अत्यन्त तीव्र हो जाती है। अपनी मांस-लोलुप रसना की तृप्ति के लिए ये अपनी माया द्वारा मनु को यज्ञ करने के लिए प्रेरित करते है और मनु द्वारा यज्ञ किए जाने पर ये दोनों पौरोहित्य कर्म करते हुए श्रद्धा-पालित पशु की बलि देकर मांस-भक्षण करते हैं। कालान्तर में जब सारस्वत प्रदेश में जनक्रांति होती है तो ये उसका नेतृत्व करते हैं। मनु के मन में यह देखकर अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न होता है कि जिनको उन्होने अपना शुभेच्छु समझा था, वे दोनों ही अब उसके विरुद्ध प्रजा को उत्तेजित करके विप्लव तथा संघर्ष की सृष्टि कर रहे है। इससे क्रोधित होकर वे अपने दुर्लक्ष्यी धनुष द्वारा सर्वप्रथम आकुलि-किलात का ही संहार करते है। 'प्रसादजी' ने मनु अर्थात् मन के मनोवैज्ञानिक विकास को स्पष्ट करने के लिए ही आसुरी वृत्तियों के प्रतीक रूप में इन दोनों पात्रों को ग्रहण किया है। किलात और आकुलि के द्वारा इस तथ्य की अभिव्यञ्जना होती हैं कि ये आसुरी वृत्तियाँ पहले तो मन को पाप-कर्म में प्रवृत्त करती हैं; और फिर जब उसे अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप कष्ट भोगना पड़ता है तो ये आसुरी वृत्तियाँ उलटे उसके कष्ट में और भी अधिक वृद्धि करती हैं।

इन पात्रो के अतिरिक्त विवेच्य महाकाव्य में 'काम' और 'लज्जा'—ये दो अशरीरी पात्र है। इनके स्वरूप का चित्रण क्रमश: 'काम' और 'लज्जा' सर्गो में हुआ है। भारतीय पुराणों में कामदेव को प्रेम का देवता और प्रणय-भावनाओं का प्रेरक माना गया है।[1] विवेच्य महाकाव्य के 'काम' सर्ग में काम और उसकी जीवन सहचरी रति के इसी रूप की अभिव्यंजना हुई है। प्रसाद जी ने उन्हें देव-संस्कृति के नाश का मूल कारण भी माना है। अशरीरी 'काम' मनु को स्वयं अपना परिचय देते हुए कहता है—

"देवों की सृष्टि विलीन हुई
अनुशीलन में अनुदिन मेरे;
मेरा अतिचार न बन्द हुआ
उन्मत्त रहा सबको घेरे।
मेरी उपासना करते वे
मेरा संकेत विधान बना;
विस्तृत जो मोह रहा मेरा
वह देव-विलास-वितान तना।"

कामायनी में 'काम' का चित्रण एक मानव-पुरुषार्थ, जिसे जीवनेच्छा तथा सिसृक्षा भी कहा गया है, के रूप में भी हुआ है और एक वात्सल्यमय पिता के रूप मे भी उनके व्यक्तित्व की अभिव्यंजना हुई है। पुराणों में श्रद्धा को कामगोत्र की बालिका माना गया है—'कामगोत्रजा श्रद्धानार्मषिका'। कहीं-कहीं पर श्रद्धा को काम की माता तथा सूर्य की पुत्री भी कहा गया है। किन्तु प्रसादजी ने श्रद्धा को काम की पुत्री स्वीकार किया है। जब प्रकृति की मधुमयी प्रेरणा से मनु के मन में प्रणय-भावनाओं का सचार होता है, तब अशरीरी काम उन्हें अपनी पुत्री श्रद्धा का परिचय देते हुए, उसे प्राप्त करने के लिए उसके योग्य बनने की प्रेरणा देता है—

"हम दोनों की संतान वही
कितनी सुन्दर भोली-भाली;
रंगों ने जिनसे खेला हो
ऐसे फूलों की वह डाली।
उसके पाने की इच्छा हो,
तो योग्य बनो" कहती-कहती,—
वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा
जैसे मुरली चुप हो रहती।"

जब मनु ईर्ष्यावश गर्भवती श्रद्धा को अकेला छोड़कर भाग जाते हैं, तब वही 'काम' जिसने उन्हें अपनी पुत्री श्रद्धा को ग्रहण करने की प्रेरणा दी थी, उन्हे और उनके रचना-तंत्र को द्वयता में लीन रहकर नाना प्रकार के क्लेश भोगने का शाप भी देता है। 'काम' के अभिशाप के कारण मनु का चित्त नाना प्रकार के कंचुकों से आवृत्त हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उन्हें अपनी ही

प्रजा के विद्रोह का सामना करना पड़ता है और घायल होकर अंततः वे पुनः श्रद्धा का आश्रय ग्रहण करते है। इस प्रकार 'कामायनी' में 'काम' के विविध रूप दृष्टिगत होते है। किन्तु देवता, वात्सल्यमय पिता आदि सभी रूपों मे वह मूलतः मानव-पुरुषार्थ का ही व्यंजक है।

लज्जा भी अशरीरी पात्र है, जिसके मनोवैज्ञानिक स्वरूप को प्रसादजी ने 'लज्जा' सर्ग में प्रस्तुत किया है—

"मै रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मै शालीनता सिखाती हूँ
मतवाली सुन्दरता पग में
नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ।
लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन-सी लगती;
कुंचित अलकों सी घुंघराली
मन की मरोर बनकर जगती।"

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रसादजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होने नाटकीयता के द्वारा अपने पात्रों का चरित्र-विकास किया है। प्रसाद जी के चरित्र-चित्रण की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने अपने पात्रों का चरित्र-विकास विवेच्य महाकाव्य के मूल प्रतिपाद्य-आनन्दवाद को दृष्टिगत रखते हुए किया है। सभी पात्र कथा के अन्त में अपने वैयक्तिक राग-द्वेष का परित्याग कर एक ही केन्द्र-विन्दु पर आकर उपस्थित हो जाते हैं, जिसे इच्छा, क्रिया और ज्ञान के सामंजस्य से उत्पन्न 'समरसता' की स्थिति कहा गया है। मनु और श्रद्धा ही नहीं, बुद्धि की प्रतीक इड़ा भी अपनी प्रजा सहित कैलाश-शिखर पर पहुँचकर 'समरसता' की स्थिति को प्राप्त करती है और नवमानवता का प्रतीक कुमार भी 'समरसता' को प्राप्त करता है। साहित्यकार न तो इतिहासकर्त्ता होता है और न ही धर्मशास्त्र-प्रणेता। क्योंकि धर्मशास्त्र-प्रणेता सिद्धांततः आदर्शवादी होता है और इतिहासकर्त्ता अतीत की घटनाओं का यथा-तथ्य वर्णन करता है। किन्तु साहित्यकार यथार्थ एवं आदर्श के समन्वय द्वारा साहित्य-सृजन करता है। 'कामायनी' का प्रणयन करते समय 'प्रसादजी' के मन में लोक-संग्रह की भावना सदैव विद्यमान रही है। इसीलिए उन्होंने अपने पात्रों के ऐतिहासिक व्यक्तित्व का यथावत् अंकन करते हुए भी उनके

माध्यम से जीवन के विभिन्न आदर्शों की स्थापना की है। 'कामायनी' के सभी पात्र अपने ऐतिहासिक अस्तित्व की रक्षा करते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करते हैं। मनु, श्रद्धा तथा इड़ा आदि के उदात्त व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक चित्रण करके उनके द्वारा यथार्थ के धरातल पर जीवन के शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई है।

प्रश्न १०—कामायनी की भाषा का विवेचन कीजिए।

उत्तर—[१. भावानुकूल भाषा का विधान, २. भावोत्तेजन के लिए विस्मयसूचक एकाक्षरों एवं द्वक्षरो का प्रयोग, ३. कोमल वर्णों के ही विशिष्ट विनियोजन से प्रलयादि के संघट्टात्मक चित्रों को मूर्त्त करने का शक्ति-वैशिष्ट्य, ४. आकारान्त स्त्रीलिंगी शब्दों को एकारान्त बनाकर भावसंप्रेषण को अधिक प्रभावशाली बनाने की प्रवृत्ति, ५. आत्मीयत्व से ओतप्रोत 'तू' शब्द का प्रयोग बाहुल्य, ६. भावसंप्रेपण की गति (Restraint) में अन्त्यानुप्रासिक शब्दो का विलक्षण विधान, ७. दार्शनिक शब्दावली (Philosophical Terms) का प्रसंगानुकूल भावात्मक प्रयोग, ८. प्रसंगनुरूप अनाग्रही शब्द-संयोजना, ९. मुहावरादि का विरल गुंफन, १०. वाक्य-विनियोजना मे लय और संगीत की दृष्टि से भावानुरूप वर्ण-संतुलन, ११. प्रतीकात्मकता, १२. आलंकारिकता, १३. गुण-माधुर्य, ओज, प्रसाद, १४. दोष, १५. निष्कर्ष।]

१ 'कामायनी' रससिद्ध कृति है। अतः उसकी भाषा तो अनिवार्यतः भावानुकूल होगी ही, क्योंकि रस के लिए भावों की सम्यक् उत्तेजना अनिवार्य है और काव्यगत भावों का उत्तेजन संप्रेषण के साधन—अर्थात् भाषा से ही संभव है। अतः 'कामायनी' की भाषा भावानुकूल है—इस प्रकार का प्रत्यक्ष कथन स्वयं मे हेत्वाभास मात्र है, क्योंकि जब 'कामायनी' रससिद्ध है तो उसकी भाषा की भावानुकूलता तो स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। भाषा भावों का आधार है और भाव रस का। अतः दंडापूप-न्याय से सम्यक् रिरसना के लिए सम्यक् भाषा की स्थिति स्वतः सिद्ध है। उसकी डुग्गी पीटने से क्या लाभ। वस्तुतः प्रश्न भावानुकूल भाषा का नहीं है, भावानुकूल भाषा के विधान का है। अभिप्राय यह है, कि कवि ने आलोच्य कृति में भाषा को किस रूप में प्रस्तुत किया है अर्थात् भाषा की वह कौन-सी प्रक्रिया (Process of Diction) है, जिससे कवि के अन्तस्थ भावों को अत्यन्त रसमय रूप में खोलकर रख दिया है। इससे पूर्व कि विषय का वांछित विश्लेषण आरम्भ किया जाय, भाषा और शैली के

अन्तर को इस प्रश्न के संदर्भ में आद्यन्त ध्यान में रखकर वढ़ना होगा। काव्य-तत्त्वों में भाषा (Diction) शैली (Style) की समकक्ष नही है, शैली का अवयव विशेष है—अर्थात् काव्य-भाषा और काव्य-शैली मे अंगागि सम्वन्ध है। अतः विशुद्ध लय, नाम, ध्वनि छंदादि—विपयक अनेक प्रसंगों को प्रस्तुत संदर्भ में छोड़ना होगा; क्योंकि उनका सीधा सम्वन्ध काव्य-भाषा से न होकर काव्य-शैली से अधिक है। संक्षेप में 'कामायनी' अथवा कामायनीकार की भापागत विशेषताएँ ये है -

२. 'कामायनी' की भाषा की मूर्धन्य विशेषता, जिस पर आज तक किसी का ध्यान नहीं गया है—भावोत्तेजना के निमित्त विस्मयसूचक एकाक्षरों एवं द्वयक्षरों के सहवर्ती प्रयोग की है। 'कामायनी' में ऐसे शताधिक छंद है, जिनमें 'ओ', 'अरी', 'आह', 'हे', 'री' आदि विस्मयसूचक शब्दों (Exclamatory Words) का प्रत्यक्ष प्रयोग किया गया है। साथ ही 'से', 'सी', 'सा' इन सम्वन्धसूचक अथवा औपमिक शब्दों के प्रयोग-वाहुल्य ने भाव-चित्रों को अत्यन्त उद्दाम-गति प्रदान कर दी है। उदाहरणार्थ—'चिंता' सर्ग मे ही 'ओ चिंता की पहली रेखा' से लेकर 'आज शून्य मेरा भर दे' तक के आठ छंदों में पन्द्रह बार उपरोक्त शब्दों में से कुछेक का प्रयोग हुआ है। इसी भाँति इसी सर्ग मे मनु का अपनी देव-सस्कृति (=पितृ-संस्कृति) विषयक विषादमय चिंतन और मृत्यु-सौंदर्य-सम्बन्धी कथन भी इन्ही शब्दों से ओत-प्रोत होने के कारण ही इतना अधिक प्रभावशाली और चित्रमय वन उठा है। अधिक स्पष्टता के लिए कुछेक पंक्तियों को विचारणार्थ लिया भी जा सकता है। यथा—

(अ) 'हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा।
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ
जल माया की चल रेखा।"

(आ) "... घनश्याम खंड-सी आँखों में
क्यों सहसा जल भर आता है।"

(इ) "रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही।
वह कहती रही अधीर श्रांत।"

(ई) "तुमुल कोलाहल कलह में मैं मलय की बात रे मन।"

यहाँ पहले, तीसरे और चौथे उद्धरण में 'हे', री' और 'ओ'—इन विस्मय-

बोधक शब्दों के प्रयोग से भाव-संप्रेषण को कितना उत्तेजित बना दिया गया है, इन पंक्तियों के पारायण से यह प्रत्यक्ष स्पष्ट है। प्रथम उद्धरण में 'अभाव', 'ललाट' और 'जल-माया' से पूर्व क्रमशः एकारान्त, ईकारान्त और ओकारान्त विस्मयपरक एकाक्षरों (Interjectional letters) के संयोग से भावाभिव्यक्ति वर्णित (Descriptive) अथवा कथित (Narrative) न होकर उच्छ्वसित (Effusive) हो उठी है और भाषा का यही उच्छ्वास 'कामायनी' की रसात्मकता के मूलभूत हेतुओं में से एक है। चौथे उद्धरण में अगर 'मन' से पहले 'रे' शब्द न होता, तो इस पंक्ति की क्या दशा होती ; यह विचारणीय है। इसी प्रकार दूसरे उद्धरण में 'घनश्याम खंड आँखों में' खंड के बाद उपमावाचक 'सी' शब्द के गुफन से कथ्य कितना संलापमय हो गया है, यह स्पष्ट है। सारांश यही है कि विस्मयवाचक एकाक्षरों अथवा उपमावाचक वर्णों का संगमन 'कामायनी' की भावानुरूपिणी भाषा के समस्त सौन्दर्य का मेरुदंड है। (प्रयोगार्थ—आप इन विस्मयवाचक शब्दों को 'कामायनी' में से निकाल लीजिए और फिर देखिए—(Kamayani stands nowhere.)

३ कवि ने प्रलय, युद्ध, अन्तर्द्वन्द्व आदि के जितने भी संघट्टात्मक चित्र प्रस्तुत किए हैं, उनमें टवर्ग अथवा द्वित्वादि की परुष-वर्णावली का प्रयोग न कर कोमल वर्णों का ही प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

दिग्दाहों से धूम उठे, या
जलधर उठे क्षितिज-तट के !
सघन गगन में भीम प्रकंपन
झंझा के चलते झटके।
·· पंचभूत का भैरव मिश्रण,
शंपाओं के शकल-निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।
···उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों-सी;
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाए व्यालों सी !
धँसती धरा धधकती ज्वाला,

ज्वालामुखियों के निःश्वास,
'''करका क्रन्दन करती गिरती,
और कुचलना था सब का।'

यहाँ एक भी द्वित्व वर्ण नहीं है और टवर्ग में से भी 'ट', 'ठ' का एकाध स्थल पर ही प्रयोग किया गया है। पूरे प्रसंग में शब्दावली लगभग कोमल ही है, तिस पर भी विनाश का वांछित चित्र स्वयं मे अत्यन्त विराट् और संप्रेषणीय बन पड़ा है। वस्तुतः कवि ने उन पर्यायवाची शब्दों को ही ग्रहण किया है जो एतद् भाव की ध्वनि को व्यक्त करने में समर्थ हो सके। उदाहरणार्थ, अन्त से दूसरी पंक्ति में 'क्रन्दन' के समतोल पर बिजली के लिए 'क' वर्ण की आकृति से युक्त 'करका' शब्द, छठी पंक्ति में 'शंपाओ' के 'श' के वजन पर 'सकल' के अर्थ में 'स' के स्थान पर 'श' (शकल) का प्रयोग। इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि ने कोमल वर्णों से संयुक्त विशिष्ट पर्यायों से अपने मनस्-बिम्बों को उद्दामता प्रदान करने का सफल यत्न किया है।

४. आकारांत स्त्रीलिंगी शब्दों को ऐकारांत बनाकर कवि ने कथ्य में संलापयुक्त प्रभविष्णुता लाने का बहुत सफल प्रयास किया है। यथा—नीरवता-'नीरवते', बलिका —'बालिके', श्रद्धा—'श्रद्धे', अम्ब—'अम्बे', अमरता – 'अमरते', निद्रा—'निद्रे', बाला – 'बाले', इड़ा — 'इड़े', गर्वीला 'गर्वीले', आदि, आदि। इस प्रकार के सायास मात्रा-परिवर्तन से भावो में बला का आत्मीयत्व आ गया है। 'श्रद्धा' शब्द में उतनी आत्मीयता नहीं है, जितनी कि श्रद्धे शब्द में।

५. इसी प्रकार आत्मपरक-शैली के संदर्भ में 'तू' शब्द का प्रयोग भी आत्मीयत्व की दृष्टि से 'कामायनी' की अन्य भाषागत विशेषता है। इस शब्द से 'कामायनी' में पद-पद पर भाव-चित्र आत्मीयता से इतने ओत-प्रोत हो उठे हैं कि पाठक-वर्ग की रसानुभूति से वे अनायास ही साधारणीकृत हो जाते हैं। उदाहरणार्थ--

मनन करावेगी तू कितना ? उस निश्चित जाति का जीव।
अमर मरेगा क्या ? तू कितनी गहरी डाल रही है नींव।

× × ×

'अरी पाप है तू, जा चल जा, यहाँ नहीं कुछ तेरा काम।'
"और सत्य ! यह एक शब्द तू कितना गहन हुआ है।"

× × ×

'और इड़ा पर यह क्या अत्याचार किया है ?
इसीलिए तू हम सबके बल यहाँ जिया है ?...'

× × ×

'जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले ।'

× × ×

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय ।
इसका तू सब संताप निचय ।
हर ले, हो मानव भाग्य उदय ।'

६. भाव-संप्रेषण की गति (Restraint) मे अन्त्यानुप्रास शब्दावली ने काफी कुछ संवेगात्मकता ला दी है । 'कामायनी' में गेयता का काफी कुछ निर्वाह हुआ है । 'कामायनी' का अन्त्यानुप्रास कोरे तुक पर आघृत न होकर छन्द और पूर्व पंक्ति की अन्तिम वर्ण-ध्वनि पर अर्थ की सापेक्षता में आघृत है—अर्थात् 'कामायनी' का अन्त्यानुप्रास अर्थ-सापेक्ष है, कोरा शैली-सापेक्ष नही । और इसीलिए प्रसंग-विशेष में निहित विशिष्ट भाव गतिशील हो उठे हैं, अवरुद्ध नहीं । उदाहरण के लिए चिंता, आशा, श्रद्धा, काम, लज्जा, कर्म, स्वप्न, संघर्ष, रहस्य—ये सारे के सारे सर्ग अन्यानुप्रासिक शब्दावली से संयुक्त होने के कारण आश्चर्यजनक रूप में गतिशील और मूर्त्त हो उठे हैं ।

७. दार्शनिक शब्दावली की बहुलता भी 'कामायनी' की मुख्य विशेषताओं में से एक है । 'प्रसाद' की कवित्व-शक्ति इसी में है कि उन्होने समस्त 'कामायनी' मे दार्शनिक शब्दावली का भावसापेक्ष प्रयोग किया है, अर्थ अथवा तर्क सापेक्ष विनियोग नही । कहने का अभिप्राय यह है कि दर्शन-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का भी उद्देश्य यहाँ पर भावोद्दीपन ही अधिक है, तर्कगत अर्थ-ज्ञापन कम । अगर भाव की सम्यक् सिद्धि हो जाती है तो अर्थ की शुचिता तो स्वतःसिद्ध है । और चूँकि 'कामायनी' रससिद्ध है, तो भावसिद्ध तो है ही और भावसिद्ध है तो अर्थ-सिद्ध तो अनिवार्यतः होगी ही और अर्थ सदैव शब्द-सापेक्ष है । अर्थात् 'कामायनी' की शब्दावली—विशेषकर पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोजन रसोद्बोधन है और रसोद्बोधन में अर्थ-ज्ञापन तो होगा ही । अत: पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग में अर्थोद्बोधन का उद्देश्य अपेक्षाकृत गौण है—अर्थात् साधन रूप है, भावोद्दीपन का उद्देश्य अधिक अर्थात् सिद्धि रूप

है। उदाहरण से बात और स्पष्ट हो जाएगी—

'स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य-अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।'

यहाँ 'स्वप्न', 'स्वाप', 'जागरण', 'इच्छा', 'क्रिया', 'ज्ञान', 'दिव्य-अनाहत' —ये सारे-के-सारे शब्द पारिभाषिक है। तब भी अंतिम पंक्ति से मनु के एकात्म मनसा-नृत्य का बिम्ब मूर्त्त हो उठा है—अर्थात् एक पाठक के नाते इन पंक्तियों से मेरे मनस्-चक्षुओं के सामने एक ऐसा चित्र साकार हो उठा है, जिसमें श्रद्धा के साथ मनु समाधि की अवस्था में एकात्म भाव से नृत्यरत हों और 'स्वप्न', 'इच्छा', 'अनाहत' आदि—ये सबके सब मानों मिलकर ताल दे रहे हों। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये पारिभाषिक शब्द अपने-अपने अर्थ-वैशिष्ट्य को सँजोए हुए भी अपने अर्थ से बिल्कुल अतीत एक दूसरे ही अखंड भाव-चित्र को व्यंजित कर रहे हैं। अर्थात् प्रस्तुत कृति में पारिभाषिक शब्दों का यथावत् अर्थ केवल साधन ही बना है, उस अर्थ के द्वारा प्रदत्त बिम्ब ही वस्तुतः साध्य है। और यही इस कृति के पारिभाषिक शब्दों का वैशिष्ट्य है।

८. 'कामायनी' में 'प्रसाद' की भाषागत विशेषता एक यह भी है कि कुछेक 'मधुर' आदि शब्दों के अतिरिक्त भाषा के प्रति उनका कोई आग्रह नही है। जहाँ जिस प्रसंग मे जैसी आवश्यकता पडी है उन्होंने उसी के अनुरूप शब्दों का चयन किया है। अर्थात् वे तत्सम, तद्भवादि के दुर्विनीत व्यामोह में नहीं पड़े है अपितु उन्होने अत्यन्त अनाग्रही भाव से प्रसंगानुकूल शब्द को ग्रहण कर लिया है। उदाहरणार्थ 'स्वायत्त', 'कच्छप' 'मत्स्य', 'सौदामिनी', 'विवर्ण', 'चहक', 'सविता', 'पूषा', 'अवशिष्ट', 'अंतरिक्ष', आदि तत्सम शब्द, 'दाँव', 'ऐंठी', 'मान', 'कलमें', 'पगली', 'जभी', 'झोंके', 'ढीला', 'घुघराई', 'कान', 'लुभा', 'छुई-मुई' आदि तद्भव एवं देशज शब्द।

९. 'कामायनी' में 'प्रसाद' ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, मुहावरापन (Idiomatic) उसकी वैसी प्रवृत्ति नही है, जैसी कि तुलसी, जायसी अथवा सूर मे उपलब्ध है। अर्थात् 'कामायनी' की भाषा मुहावरेदार भाषा नही है, व्यंग्यात्मक भाषा है। मुहावरे तो उसमें एकाध स्थल पर प्रसंगात् ही आ गये हैं। और विशिष्ट के प्रमाण पर सामान्य की स्थापना नही की जा सकती

अर्थात् मुहावरा 'कामायनी' की भाषा की प्रवृति नहीं है, प्रासंगिक वृत्ति है। आप सारी 'कामायनी' पलट जाइए, आपको कुछेक गिने-चुने मुहावरो का ही विरल प्रयोग मिलेगा। इससे स्पष्ट है कि 'प्रसादजी' की मुहावरेदार भाषा में नैसर्गिक रुचि उतनी अधिक नहीं थी, जितनी कि लक्षणामूलक अथवा व्यंजना-मूलक भाषा के विधान मे।

१०. लय और श्रुतिप्रवाह की दृष्टि से भावानुरूप वर्ण संतुलन 'कामायनी' की एक और उल्लेखनीय भाष गत विशेषता है। 'कामायनी'कार को वर्णों की ध्वनि और उसकी लय की सीमाओं का सूक्ष्म ज्ञान है—अर्थात् एक-एक वर्ण की नादात्मक गति (Motivity of Sound), ध्वन्यात्मक-परिसीमा (Limitation of tone) श्रव्य-तरंगानुक्रम (Audible Spectrum), और निपाठात्मक शक्ति (Recitative Capacity) इन चारों सूक्ष्मताओं मे कवि की बहुत गहरी पैठ है। वर्ण विधान इतना सतुलित और आनुपातिक (Proportionate) है कि नाद के कारण भाव समस्त कृति में कहीं न्यूनाधिक भी खंडित नही होने पाया है अर्थात् भाषा (जिसमें अर्थ निसर्गतः निहित है) की दृष्टि से 'कामायनी' पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र की इस प्रसिद्ध उक्ति पर खरी उतरती है, कि वही सर्वोत्तम काव्य है, जिसमे ध्वनि ही व्यंग्यार्थ को प्रतिध्वनित करती हो (That is the happiest sort of poetry in which sound echoes the sense)। सारांश यह कि कामायनी की भाषा व्यंग्य है, अभिधेय नही और यही उसके अप्रतिम गलद-प्रवाह का सुन्दर रहस्य है।

११. प्रतीकात्मकता – प्रतीकात्मकता छायावादी काव्य-शैली की वरेण्य विशेषता है, जिसे कामायनी की भाषा में भी अभिलक्षित किया जा सकता है। कामायनी की भाषा अभिधेय नही, ध्वन्यात्मक है जिसमे दुःख-निराशा के लिए 'अंधकार', सुख के लिए 'उषा', चित्त के उद्वेलन के लिए 'झंझावात', प्रेमी के लिए 'मधुप', विरहिणी के लिए 'चातकी' आदि परम्परागत तथा अपार-सौंदर्य के लिए 'ज्योत्स्ना-निर्झर', विरह-व्यथित क्षीण काया के लिए 'पतझड़ की सूनी डाली', मदिरा के लिए 'सांध्य-लालिमा', सघर्ष के लिए 'अन्धकार की आंधी' आदि नए-नए प्रतीको के द्वारा भाव-तारल्य एवं अर्थ-गाम्भीर्य को व्यंजित किया गया है।

इसी प्रकार से 'आँख की भूख', 'तरल आकांक्षा,' 'एकान्त कोलाहल', 'उज्ज्वल वरदान' आदि अन्य अनेक प्रयोग कामायनी की भाषा को लाक्षणिकता

से परिपुष्ट करते हैं।

१२. **आलंकारिकता**—कामायनी की भाषा अलंकृत भाषा है। विवेच्य भाषा में उपलब्ध शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों के राशि-राशि वैविध्यपूर्ण प्रयोग भावों के सहज उच्छ्वास को कोमल मसृणता के साथ रूपयित कर देते हैं। संस्कृत साहित्य में जिस प्रकार से महाकवि कालिदास अपनी अभिनव उपमाओं के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार से आधुनिक युग के छायावादी कवियों में प्रसाद भी अपनी चिर-नवीन, मौलिक उपमाओ के लिए लब्धप्रतिष्ठ हैं। मूर्त के लिए मूर्त तथा अमूर्त के लिए अमूर्त उपमान-योजना तो प्रायः सभी कवि सरलता से कर लेते हैं, किन्तु मूर्त्त के लिए अमूर्त तथा अमूर्त के लिए मूर्त उपमानों की विचक्षण योजना केवल रससिद्ध कवि ही कर सकते हैं। कामायनी में इस प्रकार की गरिमा-गरिष्ठ उपमान-योजना चिंता, वासना, लज्जा आदि किसी भी सर्ग में अभिलक्षित की जा सकती है—

मूर्त उपमेय के लिए अमूर्त उपमान :

(क) आ गया फिर पास क्रीड़ाशील अतिथि उदार
चपल शैशव-सा, मनोहर भूल का ले भार

(ख) "नव कोमल अवलम्ब साथ में
वय किशोर, उँगली पकड़े,
चला आ रहा मौन धैर्य-सा
अपनी माता को जकड़े।"

अमूर्त उपमेय के लिए मूर्त उपमान :

"मृत्यु अरी चिर निद्रे! तेरा
अंक हिमानी-सा शीतल।"

कामायनी में प्रयुक्त प्रतीप, रूपक आदि कतिपय अन्य विशिष्ट अलकारों का सहज-सम्मोहन भी द्रष्टव्य है—

प्रतीप— "दूर दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय-समान;"

सांगरूपक— "यौवन मधुवन की कालिंदी बह रही चूमकर सब दिगंत,
मनशिशु की क्रीड़ा-नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनंत।"

विरोधाभास— "खेल रहा है शीतल दाह।"

छायावादी भाषा-शैली की प्रवृत्ति के अनुकूल भाव-संप्रेषण की तीव्रता के

लिए मानवीकरण (Personification), विशेषण-विपर्यय (Transferred Epithet) आदि नए-नए अलंकारों का भी उन्मुक्त प्रयोग कामायनी में हुआ है—

मानवीकरण—"वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही हँसती सी पहचानी सी।"
विशेषण-विपर्यय—"देव-सृष्टि का ध्वंस अचानक
श्वास लगा लेने फिर से।"

१३. गुण—छायावादी कवि की रचना होने के कारण कामायनी की भाषा आद्यंत लावण्यमयी है। कांति और ओज उसके प्रमुख गुण हैं। मनु एवं श्रद्धा के प्रणय-प्रसंगों तथा श्रद्धा के विरह-वर्णन में भाषा माधुर्य गुण से अभिसिंचित होने के कारण सहृदय के चित्त को सहज ही द्रवित कर देती है। इसी प्रकार से सृष्टि के सत्य, सतत चिर सुन्दर रूप का उद्घाटन करने वाली श्रद्धा की उत्साहमयी वाणी ओज गुण से अभिसिक्त होने के कारण पाठक के चित्त को स्फीति प्रदान करती है। प्रायः आलोचकों ने पारिभाषिक शब्दावली के बाहुल्य एवं तत्सम शब्दों के प्राधान्य को लक्षित करते हुए कामायनी की भाषा को क्लिष्ट माना है। किन्तु वास्तविक सत्य तो यह है कि कुछ प्रसंगों को छोड़कर, जहाँ कि शैवदर्शन के निगूढ़ जीवन-सिद्धांतों की अभिव्यक्ति हुई है, आदि से अन्त तक कामायनी की भाषा मधुर-स्निग्ध और प्रसादमयी है। प्रत्यय-हेतु कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

माधुर्य—"मधु बरसती विधु-किरन है काँपती सुकुमार;
पवन में है पुलक, मंथर चल रहा मधु-भार!
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण?"

ओज— "एक तुम, यह विस्तृत भू-खण्ड
प्रकृति-वैभव से भरा अमंद
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनंद।
डरो मत अरे अमृत-संतान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।"

प्रसाद—"हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा-भार ;
यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय,
तू मननशील, कर कर्म अभय,
इसका तू सब संताप-निचय
हर ले, हो मानव-भाग्य-उदय;
सबकी समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।"

१४. दोष—कामायनी की भाषा जीवंत भाषा है। उसमें नाद, लय और गति को दृष्टिगत रखते हुए अनुकूल शब्दों की विनियोजना हुई है। किन्तु कहीं-कहीं पर उसमें व्याकरण की दृष्टि से संज्ञा, सर्वनाम, वचन तथा क्रिया-प्रयोगों के कुछ दोष भी लक्षित हो जाते हैं। जैसे—

"अरे अमरता के चमकीले
पुतलो ! तेरे वे जय नाद।"

यहाँ देवताओं के लिए 'पुतलो' बहुवचन का प्रयोग किया गया है, किन्तु 'पुतलो !' बहुवचन के साथ 'तेरे' एकवचन सर्वनाम का प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है।

इसी प्रकार "मनु को जैसा चुभ गया शूल"—इस पंक्ति में च्युत संस्कार-दोष है। यहाँ व्याकरण की दृष्टि से 'जैसा' के स्थान पर 'जैसे' होना चाहिए।

कामायनी की अलंकार-योजना में भी कतिपय ऐसे विलक्षण प्रयोग दिखाई देते हैं, जिन्हें आलोचकों ने 'दोष' की संज्ञा दी है। उदाहरण के लिए "कौन तुम संसृति जलनिधि तीर तरंगों से फेंकी मणि एक"— इस पंक्ति में मनु के लिए स्त्रीलिंग उपमान 'मणि' के प्रयोग को विद्वानों ने असंगत प्रयोग की संज्ञा दी है। वस्तुतः यदि उदार दृष्टिकोण से देखा जाए तो यह दोष नहीं है, क्योंकि कवि का उद्देश्य यहाँ मनु के वाह्य रूपाकार को नहीं उनके उदात्त व्यक्तित्त्व के औज्ज्वल्य को अभिव्यंजित करना है, जिसके लिए उपमान के रूप में 'मणि' का प्रयोग अत्यन्त सार्थक एवं साभिप्राय है।

१५. निष्कर्ष—निष्कर्षतः कामायनी की भाषा जीवंत भाषा है। छायावादी कवि की भाषा होने के कारण वह आद्यंत लावण्यमयी है। कांति और ओज उसके प्रमुख गुण हैं। उसका स्वरूप प्रगीतात्मक है। नाटकीय प्रसंगों में

प्रश्नवाचक तथा विस्मयादिबोधक शब्दों के प्रयोग द्वारा औत्सुक्य एवं नाटकीय आह्लाद की सृष्टि की गई है। नए-नए प्रतीकों के द्वारा भाषा में स्फूर्ति एवं ध्वन्यात्मकता का संचार हुआ है। आवश्यकतानुसार शुष्क अथवा मधुर शब्दों के प्रयोग द्वारा प्रसादजी ने विविध भावबिम्बों की सजीव विनियोजना की है। समग्रतः कामायनी की भाषा अभिधेय नहीं, ध्वन्यात्मक है। नाना प्रकार के प्रतीकों से संग्रथित तथा मधुर-कोमल बिम्बों एवं अलंकारों से अभिमंडित उसका मधुर-मंजुल रूप खड़ीबोली हिन्दी की अनुपम उपलब्धि है।

प्रश्न ११—काव्य में प्रकृति-चित्रण के नाना रूपों का विवेचन करते हुए 'कामायनी' के आधार पर 'प्रसादजी' के प्रकृति-चित्रण की विशेषताएं प्रतिपादित कीजिए।

उत्तर—सृष्टि के आदिकाल से ही प्रकृति मानव-भावनाओं की संवाहिका रही है। उसके मधुमय प्रांगण में विचरण करते हुए मनुष्य ने गगनचुम्बी नगाधिराजों, कलकल निनाद करते झरनों तथा सागर की क्रोड़ में समा जाने को समुत्सुक सरिताओं में अपने सुख-दुःख का प्रतिबिम्ब देखा है। योरोप के रोमांसवादी कवियों ने प्रकृति को सहचरी के रूप में ग्रहण करके मानवीकरण के द्वारा उसे सचेतन रूप प्रदान किया। वर्ड्सवर्थ तथा शेली ने प्रकृति के अनन्त सौंदर्य में जीवन के उदात्तरूप और सर्जनात्मक स्फुरण की अनुभूति की है। विक्टोरियन युग में आकर वैज्ञानिक विचारधाराओं के प्रभाव से कवियों के प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता चला गया, जिसके परिणामस्वरूप उसे मानव-निरपेक्ष रूप में अंकित किया गया। भारतीय दर्शन एवं साहित्य के इतिहास में वैदिक-काल के ऋषियों ने प्रकृति के विभिन्न उपकरणों को दैवी-शक्ति के रूप में ग्रहण करके उनकी उपासना की। लौकिक संस्कृत में वह मानव-हृदय के प्रति संवेदनशील दृष्टिगत होती है। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति प्रभृति कवियों ने पात्रों के चारित्रिक विकास के लिए उसे पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया। मेघदूत में तो विरही यक्ष आषाढ़ मास के प्रथम मेघ के द्वारा ही अपनी अलकापुरी स्थित यक्षिणी के पास संदेश भेजता है। शंकर आदि आचार्यों द्वारा जगत् को मिथ्या स्वीकार करने के कारण हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में प्रकृति का महत्त्व अपेक्षाकृत कुछ गौण अवश्य हो गया, किन्तु फिर भी इस युग के प्रायः सभी कवि प्रकृति के नाना रूपों के प्रति

आकृष्ट अवश्य हुए है। रीतिकाल में इसके उद्दीपन रूप का ही चित्रण अधिक मिलता है।

आधुनिक युग में आकर छायावादी कवियों ने संसार के अनावश्यक कोलाहल से उत्पीड़ित होकर प्रकृति के सुरम्य वातावरण में आश्रय की खोज की। पंत, प्रसाद, निराला आदि सभी कवियों ने प्रकृति के उदात्त एवं भव्य रूप के विविध चित्र अंकित किये है। आचार्य शुक्ल ने प्रकृति के उद्दीपन रूप की अपेक्षा उसके आलम्बन रूप का समर्थन करते हुए कहा है कि उसका अनंत-सौन्दर्य मानव-मन को परिष्कृत एवं उदात्त बनाता है।

'कामायनी' में प्रकृति के भयानक एवं रमणीय दोनों रूपों के संश्लिष्ट चित्र उपलब्ध होते हैं। 'चिंता' सर्ग के अन्तर्गत प्रलय-चित्रण में तथा शिव के तांडव नृत्य के वर्णन में प्रकृति का भयानक एवं रौद्र रूप अंकित हुआ है, —जिसमें प्रलय के समय होने वाले मेघों के गर्ज़न, करका-क्रंदन, पंचभूत के भैरव मिश्रण, गरजती हुई सिंधु-लहरियों, धँसती धरा तथा शंपाओं के शकल-निपात का चित्रण किया गया है।

हाहाकार हुआ क्रंदनमय कठिन कुलिश होते थे चूर,
हुए दिगंत बधिर, भीषण रव बार-बार होता था क्रूर।
पंचभूत का भैरव मिश्रण, शंपाओं के शकल-निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ, खोज रही ज्यों खोया प्रात।
उधर गरजती सिंधु-लहरियाँ कुटिल काल के जालों-सी,
चली आ रहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों-सी।
धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निश्वास,
और संकुचित क्रमशः उसके अवयव का होता था ह्रास।

इसके विपरीत प्रकृति के रमणीय एवं भव्य रूप की भी अभिव्यंजना अनेक स्थानों पर हुई है। 'आशा' सर्ग में स्वर्णमय प्रभात, नगाधिराज हिमालय तथा चन्द्र-ज्योत्सना से युक्त रजनी का चित्र अंकित किया गया है। इसी भाँति 'वासना' सर्ग में संध्या, 'इड़ा' सर्ग में सारस्वत प्रदेश तथा अंतिम 'रहस्य' एवं 'आनन्द' सर्गो मे कैलाश-शिखर के भव्य रूप की अभिव्यक्ति हुई है। इन सर्गों में कवि ने प्रकृति के विराट् रूप का भी चित्रण किया है।

नीले जलधर दौड़ रहे थे
सुन्दर सुरधनु माला पहने

कुंजर-कलभ-सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने,
प्रवहमान थे निम्न देश में
शीतल शत-शत निर्झर ऐसे,
महाश्वेत गजराज गण्ड से
बिखरी मधु-धाराएँ जैसे।

'कामायनी' में आलम्बन रूप में प्रकृति के शुद्ध रूप का चित्रण अधिक नहीं है। किन्तु जहाँ कहीं कवि ने प्रकृति के शुद्ध आलम्बन रूप का चित्रण किया है, वहाँ वह अत्यन्त मादक एवं सहज सम्मोहक है। 'आशा' सर्ग में अंकित शरदकालीन वन्य-प्रकृति का शुद्ध रूप द्रष्टव्य है—

स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
दूर-दूर तक फैल रहीं।
शरद-इन्दिरा के मन्दिर की
मानो कोई गैल रही।
अचल हिमालय का शोभन तम,
लता-कलित शुचि सानु-शरीर।
निद्रा में सुख-स्वप्न देखता
जैसे पुलकित हुआ अधीर।

प्रसादजी की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने यथास्थान मानव-भावनाओं के अनुकूल ही प्रकृति की योजना की है। कहीं-कहीं वे प्रकृति के माध्यम से ही भावी घटनाओं की भी सूचना दे देते हैं। 'आशा' सर्ग में आकर प्रकृति अपने भयानक एवं रौद्र रूप को त्याग कर आशामय रूप धारण कर लेती है, जिससे चिन्ताकातर मनु के मन में भी नवीन चेतना का संचार होता है—

उषा सुनहले तीर बरसती
जय लक्ष्मी-सी उदित हुई,
उधर पराजित काल-रात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई।
नव कोमल आलोक बिखरता
हिम-संसृति पर भर अनुराग,

सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।
सिंधु सेज पर धरा-वधू अब
तनिक संकुचित बैठी-सी,
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में
मान किये-सी, ऐंठी-सी।

प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से 'आशा' सर्ग की उपरोक्त पंक्तियों की समीक्षा करते हुए डॉ० गुलाबराय ने कहा है कि 'इनमें मंगलमय प्रेम और शृंगार के भाव मकरंद की भाँति झरते से दिखाई पड़ते है। उषा की सुनहली किरणें समृद्धि की वर्षा-सी करती हैं। जय-लक्ष्मी शब्द में विजयोल्लास ही नही वरन् उसके साथ आने वाली सुख-सम्पत्ति की भी सूचना है। आलोक भी प्रेम प्रकट करता हुआ हिम को हेम बना देता है और श्वेत सरोजों में मधुमय पीला पराग भर देता है। 'सिंधु सेज पर धरा वधू' को सुला कर विशालता में सौंदर्य-भावना उत्पन्न की गई है। 'वधू' शब्द में भी एक भावी वधू के आने की और पीछे से उसके मान की सूचना मिल जाती है।

'कामायनी' में अभिव्यक्त प्रकृति के आलम्बन रूप के अतिरिक्त उसका उद्दीपन रूप भी मिलता है। 'मधु बरसती विधु किरणों' तथा 'शीतल मन्द सुगन्ध पवन' के कारण मनु का मन भी श्रद्धा से मिलने के लिए उत्कंठित हो उठता है—

मधु बरसती विधु किरण है काँपती सुकुमार।
पवन में है पुलक मन्थर चल रहा मधु-भार।
तुम समीप अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण।
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण।

संयोग की दशा में प्रकृति के जो उपकरण सरस एवं सुखदायी प्रतीत होते हैं, वियोग की दशा में वही दुःखदायी प्रतीत होने लगते हैं। किन्तु श्रद्धा वियोग की दशा में समस्त प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर लेती है। इसी कारण प्रकृति भी उसके प्रति करुणार्द्र दिखाई देती है। विरहिणी श्रद्धा के प्रति संवेदना प्रकट करने के लिए संध्या भी अरुण जलज-केसर से मन बहलाना बन्द कर देती है, क्षितिज के भाल से कुंकुम मिट जाता है। उसकी दुखभरी गाथा सुनकर पर्वत भी रोमांचित हो उठते हैं और वे श्रद्धा की सूनी साँसों के साथ

दुःखभरी आहें भरने लगते हैं —

संध्या नील-सरोरुह से जो श्याम पराग बिखरते थे,
शैल घाटियों के अंचल को वे धीरे से भरते थे;
तृण-गुल्मों से रोमांचित नग सुनते उस दुख की गाथा।
श्रद्धा की सूनी सांसों से मिलकर जो स्वर भरते थे—

'आनन्द' सर्ग मे जिस समय कुमार तथा इड़ा सहित सारस्वत प्रदेश निवासी भी कैलाश-शिखर पर पहुंचकर आनन्दानुभूति करते हैं, उस समय प्रकृति, जो कि विरहणी श्रद्धा के प्रति संवेदनशील होने के कारण रसहीन दिखाई देती थी, अब अनन्त शोभा से मडित दिखाई देती है। परिमल बूँदों से सिंचित अत्यन्त मधुर गंधवह प्रवाहित होने लगता है तथा मदमस्त होकर मधुकर नूपुर से गुंजार करते हैं। वल्लरियां नृत्य करती हैं, हिमशिलाओं से टकराता हुआ पवन अत्यन्त मधुर मृदंग बजाता है, जिसकी ताल पर गीत-नृत्य-वाद्य आदि के द्वारा अलौकिक संगीत की सृष्टि होती है—

गूंजते मधुर नूपुर-से
मदमाते होकर मधुकर;
वाणी की वीणा ध्वनि-सी
भर उठी शून्य में मिलकर।

हिमखंड रश्मि-मंडित हो
मणिदीप प्रकाश दिखाता;
जिनसे समीर टकरा कर
अति मधुर मृदंग बजाता।

जिस प्रकार योरोप के रोमांसवादी कवियों ने प्रकृति से रहस्यमय संकेत ग्रहण किये थे, उसी प्रकार पंत, प्रसाद, निराला आदि छायावादी कवियों ने भी प्रकृति को उस रहस्यमयी अलौकिक सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में चित्रित किया है। समस्त दिशाओं में विकीर्ण प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य को देखकर मानव के मन मे सहज ही जिज्ञासा का भाव उत्पन्न हो जाता है। शैवागमों से प्रभावित होने के कारण प्रसादजी ने जगत् को उस परम चैतन्य शक्ति की इच्छा का परिणाम माना है। उसी की प्रेरणा से प्रकृति के नाना उपकरणों की सृष्टि होती है, जिन्हें देखकर जीव के मन में समस्त विश्व के नियन्ता को जानने की हार्दिक उत्सुकता जाग्रत हो जाती है—

'महानील इस परम व्योम में,
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते-से संधान ?
छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए,
तृण, वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए ?
हे हिराट् ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो, ऐसा होता भान;
मन्द-गम्भीर-धीर-स्वर-संयुत
यही कर रहा सागर गान।

गुलाबरायजी के अभिमतानुसार प्रसादजी आस्तिक कवि थे। वे परमात्मा को प्रकृति में व्याप्त देखते थे। विश्वात्मा से अनुप्राणित होने के कारण प्रकृति उनके लिए विशेष अनुराग का विषय बन जाती है। आस्तिकता का आधार पाकर उनकी प्रकृति सम्बन्धी सौन्दर्योपासना कुछ गहरी हो गई थी। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि प्रसादजी का प्रकृति-प्रेम कहाँ तक स्वयं उसके लिए नहीं है। परमात्मा की चेतनता से व्याप्त होने के कारण जिस प्रकार मानव-प्रेम का महत्त्व नही घटता, उसी प्रकार प्रकृति का भी नहीं।

लोक-संग्रह की भावना में पूर्ण विश्वास होने पर भी प्रसादजी को गोस्वामी तुलसीदासजी की भाँति प्रकृति का उपदेशात्मक रूप ग्राह्य नहीं है। उन्होंने सर्वत्र प्रकृति को मानव-भावनाओं से संश्लिष्ट रूप में चित्रित किया है। कहीं भी वह पृथक् अस्तित्व ग्रहण करके उपदेश देती हुई दृष्टिगत नही होती। 'कामायनी' में महाप्रलय के चित्रण एवं मनु द्वारा इड़ा पर बलात्कार किए जाने पर प्रकृति विपर्यय द्वारा व्यंजना रूप में ही उसके द्वारा निषेधात्मक आदेश मिलता है। वह मनुष्य के सुख-दुःख, हास-विलास के प्रति चिर-परिचित दिखाई देती है—

निकल रही थी मर्म-वेदना
करुणा विकल कहानी-सी।

वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही
हँसती-सी पहचान सी ।

अन्य छायावादी कवियो के समान प्रसादजी ने भी 'कामायनी' में प्रकृति का मानवीकरण करके उसे सचेतन रूप में प्रस्तुत किया है। उस पर विविध मानव-भावों के आरोपण द्वारा उसे और भी अधिक भव्य, आकर्षक एवं मधुमय सौन्दर्य से युक्त अनुपम रूप प्रदान किया है। किसी चेतनशील व्यक्ति के समान वह नवीन परिधानों से आवेष्टित होकर अँगड़ाई लेती हुई हमारे सामने प्रस्तुत होती है—

धीरे धीरे हिम-आच्छादन
हटने लगा धरातल से ;
जगीं वनस्पतियाँ अलसाई
मुख धोती शीतल जल से ।
नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने ;
जलधि-लहरियों की अँगड़ाई
बार बार जाती सोने ।

प्रसादजी ने वातावरण की सृष्टि तथा मानव-भावनाओं की पृष्ठभूमि के रूप मे भी प्रकृति का उपयोग किया है। 'कामायनी' में प्रसंगानुकूल सूक्ष्म प्राकृतिक वातावरण की योजना की गई है। मनुष्य के हास-विलास तथा सुख-वैभव की दशा में प्रकृति के विभिन्न उपकरण भी प्रफुलित दिखाई देते हैं तथा दुःख एवं नैराश्य की दशा में प्राकृतिक वातावरण भी निर्जन, गम्भीर एवं शोक-युक्त प्रतीत होता है। 'कामायनी' के प्रारम्भ में महाप्रलय के आघात से क्षत-विक्षत, चिताग्रस्त मनु का चित्रण करने के उद्देश्य से प्रकृति के भी नीरव, शांत, स्तब्ध रूप को अंकित किया गया है। दूर-दूर तक विस्तृत स्तब्ध हिमशिखरों, नीरवता-सी शिला-चरण से टकराते पवन तथा हिम-धवल, ठिठुरते हुए देवदारु के वृक्षों के चित्रण द्वारा भावानुकूल वातावरण की योजना हुई है—

दूर-दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय-समान ;
नीरवता-सी शिला-चरण से
टकराता फिरता पवमान ।

उसी तपस्वी से लम्बे, थे
देवदारु दो चार खड़े ;
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर
बन कर ठिठुरे रहे अड़े ।

मनोविज्ञान के अनुसार 'श्रद्धा' से पहले मानव मन में 'आशा' की भावना उदित होती है । चिंता तथा दुःख के उपरान्त मनु के मन में जाग्रत होने वाली 'आशा' का चित्रण करने के लिए प्रसादजी ने प्रकृति के शांत, स्तब्ध, गम्भीर रूप के विपरीत उसके विकसित रूप की योजना पृष्ठभूमि के हेतु की है । 'आशा' सर्ग के प्रारम्भ में ही उषा जयलक्ष्मी के समान उदित होती हुई दिखाई देती है, वर्षा के पश्चात् शरद विकसित होने लगता है, त्रस्त प्रकृति पुनः हँसती हुई प्रतीत होती है तथा चारों ओर हिम-शिखरों पर नव-कोमल आलोक विकीर्ण होने लगता है—

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से,
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में,
शरद-विकास नये सिर से ।

इन्द्रनील मणि-महाचषक था
सोम-रहित उलटा लटका ;
आज पवन मृदु सांस ले रहा
जैसे बीत गया खटका ।

इसी प्रकार 'कामायनी' के अन्य सर्गों में भी वातावरण निर्माण के लिए प्रकृति को आधार रूप में ग्रहण किया गया है । 'काम' सर्ग में काम की प्रवृत्ति के अनुरूप वसंत-वर्णन, 'वासना' सर्ग में वासनायुक्त प्राकृतिक वातावरण तथा 'संघर्ष' सर्ग में प्रकृति-विपर्यय का चित्रण किया गया है । मानव-मन में उद्बुद्ध होने वाली वासना की पृष्ठभूमि में व्योम भी चुम्बन-व्यस्त तथा देवदारु-निकुञ्ज भी सुधा-स्नात दिखाई देता है—

देख लो, ऊँचे शिखर का व्योम-चुम्बन व्यस्त,
लौटना अन्तिम किरण का और होना अस्त ।
देवदारु-निकुंज-गह्वर सब सुधा में स्नात,
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात ।

आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गंध,
पवन के घन घिरे पड़ते थे बने मधु अंध।

छायावाद की प्रवृत्ति के अनुरूप प्रकृति का प्रतीकात्मक चित्रण भी 'कामायनी' में मिलता है। 'काम' सर्ग में वसंत पूर्ण-विकसित यौवन, 'रजनी का अंतिम प्रहर' किशोरावस्था की समाप्ति, कलियाँ प्रेम का तथा 'काकली' मधुर कोमल भावनाओं का प्रतीक है। इसी प्रकार 'श्रद्धा' तथा 'वासना' सर्गों में श्रद्धा के अनुपम सौन्दर्य का चित्रण करते हुए उसे 'मधु-पवन-क्रीड़ित शिशु शाल', 'वसंत का दूत', 'ज्योत्सना-निर्झर' तथा 'वासना की मधुर छाया' आदि कहकर अभिहित किया गया है।

'प्रसादजी' ने अलंकारो के लिए भी प्रकृति के विभिन्न उपकरणों को ग्रहण किया है। किन्तु गुण, भाव एवं आकृतिगत साम्य दिखाने के लिए की गई उनकी उपमान-योजना इतनी अधिक सूक्ष्म एवं साभिप्राय है कि उससे कहीं भी रसाभिव्यक्ति मे व्याघात उत्पन्न नही होता। श्रद्धा, इड़ा आदि के रूप-चित्रण के लिए भी उन्होंने प्रकृति से ही विभिन्न उपमानों को ग्रहण किया है। नीलपरिधान बीच सुकुमार श्रद्धा के अंग की उपमा उन्होंने बिजली के फूल, उसके मुख की उपमा अचेत ज्वालामुखी, घुंघराले बालों की उपमा सुकुमार नील घन-शावकों तथा मृदु हास की उपमा मधु-किरन से दी है। इसी प्रकार उन्होंने इड़ा के अनुपम सौन्दर्य को 'प्राची के रम्य फलक पर अंकित नवल चित्र' तथा 'अम्लान नलिन की नवमाला' के तुल्य कहा है—

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
　　　　एक लम्बी काया उन्मुक्त;
मधु-पवन-क्रीड़ित ज्यों शिशु शाल
　　　　सुशोभित हो सौरभ-संयुक्त।
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
　　　　बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि मण्डल उनको भेद
　　　　दिखाई देता हो छवि-धाम।

× × ×

श्याम नभ में मधु किरन सा फिर वही मृदु हास,
सिन्धु की हिलकोर, दक्षिण का समीर विलास।

कुंज में गुंजरित कोई मुकुल-सा अव्यक्त,
लगा कहने अतिथि, मनु थे सुन रहे अनुरक्त—

इस प्रकार हम देखते हैं कि विवेच्य महाकाव्य की रचना करते समय प्रसादजी के मन में प्रकृति के प्रति विशेष आकर्षण रहा है। 'कामायनी' की प्रायः सभी घटनाएँ हिमालय की उपत्यका में ही घटित होती है। कथा का प्रारम्भ हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर चिताग्रस्त वैठे मनु के चित्रण से प्रारम्भ होता है तथा उसका अन्त भी कैलाश-शिखर पर प्रकृति की सुरम्य मधुमयी क्रोड़ में ही होता है। प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से जब हम 'कामायनी' का विश्लेषण करते हैं तो हम देखते हैं कि प्रसादजी ने विवेच्य कृति में मानव की आन्तरिक प्रकृति का वाह्य प्रकृति के साथ समन्वय स्थापित किया है। योरोप के रोमांसवादी कवियों की भाँति उन्होने भी प्रकृति का मानवीकरण करके उसे सचेतन रूप प्रदान किया है। विवेच्य कृति मे प्रकृति के भव्य एवं आकर्षक रूप के साथ-साथ उसके भयानक एवं रौद्र रूप की भी प्रसंगानुकूल अभिव्यक्ति हुई है, जिसमें भावाक्षित एवं संश्लिष्ट चित्रों का ही वाहुल्य है। वह सर्वत्र ही मानव-हृदय के प्रति संवेदनशील है। शैवदर्शन से प्रभावित होने के कारण कवि ने प्रकृति को उस परम चैतन्य एवं अलौकिक रहस्यमयी शक्ति की इच्छा के परिणाम-रूप में अभिव्यंजित किया है। इसी कारण वह अपने मूल रूप में सत्य, शिव तथा सुन्दर है। उसके विविध उपकरणों के द्वारा उस अलौकिक सत्ता की असीम शक्ति का आभास होता है।

प्रश्न—१२ "कामायनी अतीत के आयाम पर वर्तमान की अभिव्यक्ति है"—इस अभिमत की समीक्षा कीजिए।

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। प्रत्येक युग का साहित्य अपने समसामयिक वातावरण एवं परिस्थितियों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रभावित होता है। कवि अपने चतुर्दिक वातावरण से नए-नए विषयों की प्रेरणा ग्रहण करता है और प्रतिदान के रूप में अपने काव्य द्वारा अपने युग को जीवन के उदात्त आदर्शों का भव्य आलोक प्रदान कर उलझी हुई संवेदनाओं के नए-नए समाधान खोजने के लिए अभिप्रेरित करता है। तुलसी ने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की पौराणिक कथा के अन्तर्गत जिस रूप मे अपने युग की वर्ण-व्यवस्था, सामाजिक विशृंखलता, राजनीतिक अराजकता, व्यष्टि और समष्टि के पारस्परिक संघर्ष को अभिव्यक्त किया है उससे उनकी

युग-चेतना का साकार रूप आज भी पाठक के सामने उपस्थित हो जाता है। इस रूप में यदि तुलसी के काव्य को हम मध्यकाल का सामाजिक इतिहास कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। आधुनिक युग की प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए कतिपय समालोचकों ने प्रगतिवाद को छायावाद की प्रक्रिया स्वीकार कर छायावाद को वैयक्तिक राग-विराग की सीमाओं तक संकुचित करने का प्रयास किया है। प्रगतिवादी आलोचक प्रायः छायावादी काव्य पर समसामयिक समस्याओं की उपेक्षा करने का आरोप लगाते हैं। उनके अनुसार छायावादी कवि आत्मलीन होकर अपने समसामयिक कटु-तीक्ष्ण यथार्थ से पलायन करते हैं। इसीलिए उनका काव्य आत्म-विस्तार का काव्य नहीं है, एकान्त अनुभूति का काव्य है। यदि छायावाद की अनुपम कृति 'कामायनी' के सन्दर्भ में हम प्रगतिवादी आलोचकों के इन आक्षेपों की समीक्षा करें तो ये आक्षेप अत्यन्त लचीले प्रतीत होते हैं, क्योंकि कामायनी छायावादी सौन्दर्य-चेतना की अनुपम उपलब्धि होने के साथ-साथ आधुनिक युग की सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना का एक प्रमाणिक आलेख भी है। 'आँसू', 'लहर' और 'झरना' में निश्चय ही कवि की वैयक्तिक हर्ष-विषादमयी अनुभूतियों का प्रकाशन है, किन्तु कामायनी कवि के गहन चिन्तन-मनन का प्रतिफलन है। इसमें कवि ने अपने युग की अतिभौतिकतावादी श्रांत-क्लांत मानवता को मनु, श्रद्धा और इड़ा के पौराणिक आख्यान के माध्यम से 'सामरस्य' के द्वारा 'शांति-लाभ' का स्वर्णिम संदेश दिया है। कामायनी में वर्तमान की अभिव्यक्ति के लिए अतीत के पौराणिक आयाम को इसलिए ग्रहण किया गया है, जिससे कि हम अपनी समस्याओं का तटस्थ होकर विश्लेषण कर सकें। किन्तु कलात्मक दृष्टि से जिन चित्रों में विराट् दृश्यों की योजना होती है, वे चित्र दूर से देखने पर ही आकर्षक प्रतीत होते हैं। ऐसे चित्रों को समीप से देखने पर तो उनकी विराटता में हम स्वयं खो जाते है और दृश्य के केवल एक अंश को ग्रहण कर पाते हैं। 'कामायनी' भी मानव-जीवन का एक ऐसा विराट चित्र है जिसमें वर्तमान जीवन के वैषम्य को पौराणिक पृष्ठभूमि प्रदान की गई है। इस संदर्भ मे यह भी ध्यातव्य है कि कामायनी में वर्तमान का चित्रण प्रत्यक्ष रूप में नही है। अतीत की पौराणिक कथा को ग्रहण करने के कारण यह सम्मव भी नहीं था। विवेच्य महाकाव्य में वर्तमान का स्वर अभिधार्थ में नहीं, आद्यन्त ध्वन्यार्थ में निहित है।

जिस युग में कामायनी की रचना हुई, वह युग भारतीय इतिहास में

सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से आशा-निराशा, क्षोभ, प्राप्तयाशा, ग्रहण और त्याग तथा नए-नए आंदोलनों का युग था। उस समय भारत परतंत्रता की शृंखला में आबद्ध था और स्वतन्त्रता के लिए नाना प्रकार के अहिंसात्मक एवं क्रांतिकारी आन्दोलन चल रहे थे। इसी समय भारतीय समाज में परम्परागत सड़ी-गली रूढ़ियों के त्याग और युगानुकूल नए जीवन-मूल्यों की स्थापना के लिए आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज तथा इण्डियन नेशनल कांग्रेस के द्वारा नई चेतना जाग्रत की जा रही थी। आर्थिक दृष्टि से भी वह काल संक्रान्ति-काल था। पश्चिम की औद्योगिक क्रांति के प्रभाव से कृषि-कर्म पर आधृत भारतीय अर्थ-व्यवस्था भी धीरे-धीरे उद्योग-धन्धों की ओर उन्मुख हो रही थी। उद्योग-धन्धों को कृषि-कर्म की अपेक्षा अधिक लाभप्रद माना जाने लगा था। पश्चिम के प्रभाव से भौतिक उन्नति के आकर्षण ने भारतीय जन-मानस में एक नया उद्वेलन उपस्थित कर दिया था। मार्क्सवादी जीवन-दर्शन भी भारतीय जन-जीवन के चेतन-मस्तिष्कों को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल सिद्ध हुआ था। इस प्रकार के वातावरण में जैसे-जैसे मनुष्य जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों से हटकर भौतिकता की ओर बढ़ रहा था, वैसे-वैसे उसके जीवन में असन्तोष, क्षोभ और अतृप्ति की प्यास बढ़ती चली जा रही थी। वैज्ञानिक आविष्कारों से दूर-दूर तक फैले हुए द्वीप और महाद्वीप निकट आते जा रहे थे, किन्तु मनुष्य अपने उद्दीप्त 'अहं' के कारण समष्टि से कट कर आत्म-केन्द्रित होता चला जा रहा था। विकृत 'अहं' के विस्फोट के कारण ही राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक संघर्षों की सृष्टि हो रही थी। वस्तुतः यही स्थिति आज भी है। इस प्रकार की परिस्थितियों में दार्शनिकों, विचारकों और नेताओं ने व्यष्टि और समष्टि के कल्याण के लिए अनेक जीवन-सिद्धांत प्रस्तुत किये। प्रसादजी की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने जीवन की इन विसंगतियों से मुक्त होने के लिए इच्छा, क्रिया और ज्ञान के सामंजस्य पर आधृत 'समरसता' के भव्य जीवन-सिद्धांत को अतीत के आयाम पर प्रस्तुत किया। इस रूप में कामायनी अतीत के आयाम पर वर्तमान की अभिव्यक्ति है। मनु, श्रद्धा और इड़ा ऐतिहासिक पात्र हैं, किन्तु उनके माध्यम से व्यंजित मानव-पुरुषार्थ युग-युग का मानव-पुरुषार्थ है, जिसमें आज के मानव की दुर्बलता और शक्ति पलायन और संघर्ष की परस्पर-विरोधी भावनाएँ अनुभूतिगत सत्य के रूप में समाविष्ट हैं

संहार करते है। पारस्परिक हिंसा के इस संघर्ष में वे घायल हो जाते है। अंततः जब वे पुन: श्रद्धा का आश्रय ग्रहण करते हैं, तब 'अहं' का विसर्जन होने पर उन्हे प्रेम और करुणा के रूप मे 'अहिंसा' के शुद्ध भावात्मक रूप की उपलब्धि होती है।

अहिंसा का यह सिद्धान्त भारतीय जीवन-दर्शन का अत्यन्त प्राचीन सिद्धात है। पतंजलि ने भी अपने योग-दर्शन मे अहिंसा के भावात्मक रूप की प्रतिष्ठा की है—"अहिंसां प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:"। बौद्ध एवं जैन धर्मों का तो जीवन-दर्शन ही करुणा एवं जीव-दया के मूल सिद्धांतों पर आधृत है। इस प्रकार करुणा, दया, ममता से आप्लावित 'अहिंसा' का यह सिद्धात यद्यपि आधुनिक युग की कोई नई मौलिक उपलब्धि नही है, किन्तु कामायनी मे मनु और श्रद्धा के माध्यम से उसकी जिस रूप में प्रतिष्ठा हुई है, उसमे वर्तमान युग की गांधीवादी भावना का स्वर अवश्य मुखरित है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम के समय गाधीजी ने अहिंसा को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हुए तकली और चर्खे पर सूत कातने और स्वयं काते हुए सूत के वस्त्र पहनने पर बल दिया था। कामायनी मे भी गाधीवादी भावनाओं की संवाहिका श्रद्धा तकली पर सूत कातती हुई और स्वयं वस्त्र बुनती हुई दिखाई देती है—

"तुम दूर चले जाते हो जब
तब लेकर तकली यहाँ बैठ;
मैं उसे फिराती रहती हूँ
अपनी निर्जनता बीच पैठ।
मैं बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्त्तन में स्वर-विभोर—
चल री तकली धीरे-धीरे
प्रिय गए खेलने को अहेर।"[1]

गाधीजी आचरण की शुद्धता को सर्वाधिक महत्त्व देते थे। अन्याय और अत्याचार के विरोध के लिए उन्होने 'सत्याग्रह' का महामंत्र भारतीय जनता को दिया था। वे कहते थे कि किसी भी महान कार्य की पवित्रता उस कार्य की सिद्धि के लिए प्रयोग मे लाये जाने वाले साधनों की पवित्रता पर निर्भर

1. कामायनी—ईर्ष्या, पृ० १६२

करती है। इसीलिए वे किसी भी प्रकार के शक्ति-प्रयोग द्वारा प्रतिपक्षी को पराजित करने के स्थान पर अपने तप, त्याग के द्वारा उसके हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत में अधिक विश्वास रखते थे। उनका आदर्श था 'पाप' से घृणा करो, पापी से नहीं। कामायनी में श्रद्धा का रूप एक आदर्श सत्याग्रही का रूप है। वह अपने तप और त्याग के द्वारा मनु की हिंसक वृत्तियों का परिष्कार करती है। जब मनु उसे प्रवंचित कर भाग जाते है, तब भी वह उनका तिरस्कार नहीं करती, उनकी निन्दा नही करती। सारस्वत प्रदेश मे पहुँचकर उन्हें संबल प्रदान करती है। अपनी नि.स्वार्थ सेवा के द्वारा वह उनकी संकुचित चितवृत्तियों का विस्तार करती है। उन्हे आनन्द और कल्याण के मार्ग की ओर ले जाती है। अपने बलिदान और त्याग के द्वारा वह 'इड़ा' के सामने भी एक आदर्श उपस्थित करती है। श्रद्धा का यह रूप एक आदर्श भारतीय नारी का रूप है, जिसमें एक आदर्श समाज-सेविका का रूप भी छिपा हुआ है। मनु के शासन के विरुद्ध प्रजा का विक्षोभ एक सत्याग्रह नही, वह तो एक क्रांति है। जिस प्रकार विदेशी दासता से मुक्त होने के लिए गांधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन दमन-चक्र से प्रताड़ित होकर प्रायः हिंसात्मक रूप धारण कर लेते थे, इसी प्रकार से सारस्वत प्रदेश की प्रजा का विरोध भी मूलतः सत्याग्रह होते हुए मनु की हिंसा के उत्तर में हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार कामायनी में केवल श्रद्धा का रूप ही एक आदर्श सत्याग्रही का भव्य रूप है, क्योंकि उसके मन में कभी भी हिंसा अथवा प्रतिशोध का भाव उत्पन्न नहीं होता। मनु भी उसके इस उदार रूप की प्रशंसा करते है—

"तुम देवि ! आह कितनी उदार,
यह मातृ-मूर्ति है निर्विकार;
हे सर्वमंगले ! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती;
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा-निलय में हो रहती;
मैं भूला हूँ तुमको निहार,
नारी-सा ही ! वह लघु विचार।"[1]

---

१. कामायनी— दर्शन, पृ० २६१

सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत सुन माँ की पुकार।"[1]

'समरसता' यद्यपि शैव-दर्शन का एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। किन्तु यहाँ राजनीति-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में इसका अर्थ आध्यात्मिक मूल्यो से परिपुष्ट एक ऐसे समाज से है जिसमे ऊँच-नीच का, 'स्व' और 'पर' का किसी प्रकार का भेद-भाव न हो। समाज के सभी वर्गो के मध्य एक दूसरे के प्रति श्रद्धा-विश्वासमयी रागात्मक भावना का प्रसार हो। समाजवाद का यही रूप आज के स्वतन्त्र भारत का लक्ष्य है, जिसे प्रसादजी ने स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनो मे अँग्रेजों की कलुषित शासन-व्यवस्था के विरुद्ध एक आदर्श के रूप मे समाज के सामने प्रस्तुत किया था।

राजतन्त्र, साम्राज्यवाद एवं क्रांति

भारतवर्ष के पौराणिक काल में राजा को उसके न्यायप्रिय आचरण के कारण ईश्वर का प्रतिनिधि और पिता माना जाता था। किन्तु जैसे-जैसे राजतन्त्र में विकार आते गए वैसे-वैसे राजसत्ता निरंकुश होती चली गई। जब राजसत्ता निरंकुश हो जाती है, तब साम्राज्यवादी और सामन्तवादी प्रवृत्तियाँ पल्लवित होती हैं। राजा-प्रजा मे वैमनस्य बढ़ता है और प्रजा नित्य-प्रति के शोषण से मुक्त होने के लिए क्रांति करती है। क्रांति परिवर्तन का सूचक है जिसके द्वारा नई शासन-व्यवस्था स्थापित होती है। आज भारत विश्व के मान-चित्र पर एक स्वतन्त्र गणराज्य के रूप मे सुशोभित है। किन्तु जिस समय कामायनी की रचना हुई थी, उस समय भारत एक साम्राज्यवादी विदेशी सत्ता के अधीन था। विश्व के अन्य अनेक देश भी साम्राज्यवादी शक्तियों से आक्रांत थे। अनेक देशों में निरंकुश राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था थी, जिससे मुक्त होने के लिए सम्पूर्ण विश्व में सफल-असफल अनेक क्रांतियाँ घटित हो रही थीं। प्रजा के कल्याण के लिए स्थापित राजतन्त्र के क्रमशः साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के रूप मे परिवर्तन की ओर भी प्रसादजी ने मनु के शासन-तन्त्र के माध्यम से संकेत किया है। मनु ने सारस्वत प्रदेश की प्रजा को एक कल्याणकारी राजतन्त्र प्रदान किया। वर्ग विभाजन के आधार पर श्रम का

---

१. कामायनी-दर्शन, पृ० २५६

विभाजन किया। ज्ञान और विज्ञान के अनेक साधन अपनी प्रजा की सुविधा के लिए एकत्रित किए। किन्तु जब मनु के मन मे सामन्तवादी प्रवृत्तियाँ उभरने लगीं, सारे प्रदेश का नियमन करने वाला उनका मन स्वयं अनियंत्रित होने लगा तब पूँजीवाद (Capitalism) और साम्राज्यवाद (Imperialism) की भावना से आच्छादित उनका शासनतन्त्र भी शिथिल हो गया। सारस्वत प्रदेश की जनता ने उनकी सामन्तवादी अर्थ-व्यवस्था और पूँजीवादी शोषण का विरोध किया—

"तुमने योग-क्षेम से अधिक संचय वाला
लोभ सिखा कर इस विचार-संकट में डाला।
हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बना कर निज कृत्रिम दुख।
प्रकृति-शक्ति तुमने यन्त्रों से सब की छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।"[1]

मनु के शासन-विधान के इस चित्रण में आज के युग की साम्राज्यवादी एवं पूँजीवादी शासन-व्यवस्था की झलक है। प्रसादजी की काव्य-चेतना सदैव आदर्शवादी रही है। इसीलिए उन्होंने कामायनी में भी अपने युग की पूँजीवादी प्रवृत्तियों की एक हल्की-सी झाँकी प्रस्तुत करने के साथ-साथ सामन्तवादी प्रवृत्तियों के परिष्कार और एकतंत्र के सुसंस्कृत प्रजातन्त्रात्मक रूप की ओर भी संकेत किया है। अपनी प्रजा के विद्रोह के सामने पराजित हो जाने के बाद जब श्रद्धा के सहयोग से मनु की सामन्तवादी प्रवृत्तियों एवं एकाधिकार की भावना का परिष्कार होता है, तब अपनी प्रजा उन्हें अपने से पृथक् नहीं, अपना ही एक अभिन्न अंग, अपना ही कुटुम्ब प्रतीत होती है।[2] शासक और शासित

---

१. कामायनी—संघर्ष, पृ० २११

२. "हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमीं हैं
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।"

—आनन्द, पृ० २९९

का ऐसा रागात्मक सम्बन्ध ही आज के युग के लिए एक आदर्श शासन-व्यवस्था है, जिसमे राष्ट्र-नायक स्वयं को प्रजा का स्वामी नहीं, सेवक मान कर आचरण करे, इस रूप मे 'कामायनी' में वर्तमान युग की राजनीति का यह चित्रण यथार्थवादी होते हुए भी आदर्श की ओर उन्मुख है।

औद्योगिक विकास

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। आज मनुष्य अपने बुद्धि-वैभव के द्वारा नित्य नए-नए आविष्कारो की सिद्धि कर रहा है। विज्ञान की सहायता से आज एक नई औद्योगिक सभ्यता विकसित हो रही है। पश्चिम की औद्योगिक क्रांति के प्रभाव से भारत मे भी अनेक उद्योगो की स्थापना हो चुकी है और हो रही है। प्राचीन युग में आर्थिक व्यवस्था का मूल आधार कृषि-कर्म था। परन्तु आज के अर्थतन्त्र में उद्योगो का अधिक महत्त्व है। आर्थिक क्षेत्र के इस परिवर्तन का प्रत्यक्ष चित्रण तो कामायनी में नही है किन्तु मनु, जो कि मन के प्रतीक हैं, उनके माध्यम से आज के मानव की विज्ञान और उससे सम्बद्ध उद्योग-धन्धों के प्रति अनुरक्ति की व्यंजना इस विवेच्य महाकाव्य में अवश्य हुई है। श्रद्धा अपने भावी शिशु के लिए कुटिया बनाती है, नाना प्रकार के बीजों का संग्रह करती है। मनु को भी पशु-वध का हिंसक कर्म छोड़ने का उपदेश देती है और उनकी सहायता से एक नई कृषक सभ्यता विकसित करना चाहती है जिसमें मनुष्य निरीह पशुओं को अपना भक्ष्य न बनाकर स्वयं अपने परिश्रम द्वारा अन्न का उत्पादन करे। किन्तु मनु श्रद्धा के इस महान् प्रयास की उपेक्षा करते हैं और उससे विरक्त होकर चले जाते है। किन्तु जब इड़ा मनु को विज्ञान की सहायता से सारस्वत प्रदेश के पुनर्निर्माण का आमन्त्रण देती है,[1] तब वे

---

१. "हाँ तुम ही हो अपने सहाय !
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किसकी नर शरण जाय ?
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य-भरी शोधक-विहीन,
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन,
सबका नियमन शासन करते बस बढा चलो अपनी क्षमता,
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कही विषमता या समता।
तुम जडता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय।
यश अखिल लोक में रहे छाय॥"
—इड़ा, पृ० १८३

उसके आमंत्रण को सहर्ष स्वीकार कर लेते है और अपने ज्ञान-विज्ञान के उत्कर्ष द्वारा भौतिक सुख-सुविधाओं पर आधृत एक नई नागरिक सभ्यता का निर्माण करते हैं। कृषि-कर्म पर अवलम्बित श्रद्धा के रचनात्मक कार्यों के प्रति मनु की उदासीनता और इड़ा अर्थात् बुद्धि के द्वारा प्रेरित औद्योगिक विकास के प्रति उनकी अनुरक्ति के माध्यम से वस्तुतः प्रसादजी ने आज के मानव के ज्ञान-विज्ञान के प्रति आकर्षण, नए-नए उद्योग-धन्धों की अभिलाषा और सीधे-सरल ग्रामीण जीवन की अपेक्षा भौतिक हास-विलास से युक्त नागरिक जीवन के प्रति निरन्तर बढ़ते हुए मोह को व्यंजित किया है।

भोग एवं विलास

आज हम जैसे-जैसे भौतिकता की ओर बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे हमारे जीवन में विलासिता की प्रधानता होती चली जा रही है। हमारा सुख आत्म-केन्द्रित होता चला जा रहा है। कामायनी में प्रसादजी ने मनु के माध्यम से भौतिकता के उन्माद में डूबे आज के मानव की भोग-विलास की उद्दाम लालसाओं का व्यापक चित्रण किया है। श्रद्धा मनु को आत्म-सुख के विस्तार का श्रेय-संवलित संदेश देती है, किन्तु उसके अभिमत से सहमत न होते हुए मनु इस क्षणिक मानव-जीवन में भोग-विलास की संतुष्टि को अधिक प्रिय मानते है—

(क) "आकर्षण से भरा विश्व यह
केवल भोग्य हमारा;
जीवन के दोनों कूलों में
बहे वासना-धारा।"[1]

(ख) "तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धे! वह भी कुछ है;
दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सब कुछ है।"[2]

(ग) "मैं उसको निश्चय भोग चलूँ
जो सुख चलदल-सा रहा डोल।"[3]

---

१. कामायनी—कर्म, पृ० १३८

२. वही—कर्म, पृ० १४०

३. वही—ईर्ष्या, पृ० १६०

मनु की भोग-भावना इतनी अधिक प्रदीप्त है कि वे उसे ही जीवन का सर्वस्व मान लेते है। जीवन के अन्य पुरुषार्थों की अपेक्षा उन्हे 'काम' सर्वाधिक प्रिय प्रतीत होता है। अपने सुख के लिए वे निरीह पशुओं का वध करते हैं। जब उनकी इस स्वार्थ-वृत्ति की भर्त्सना करते हुए श्रद्धा उन्हे "औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ" का उपदेश देती है, तब भी वे अपनी संकुचित मनोवृत्तियो का त्याग नही कर पाते। अपने सुख के मार्ग की प्रत्येक बाधा उन्हे अप्रिय प्रतीत होती है। यहाँ तक कि गर्भवती श्रद्धा की अपने भावी शिशु के प्रति ममता भी उन्हें अपने प्रति उपेक्षा प्रतीत होती है। श्रद्धा के स्नेह और प्रेम का वे एकाकी उपभोग करना चाहते है। इसलिए वे श्रद्धा के स्नेह को बाँटने वाले अपने भावी शिशु से भी ईर्ष्या करने लगते हैं—

"यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार;
भिक्षुक मैं ? ना, यह कभी नहीं
मैं लौटा लूँगा निज विचार।"[1]

कामायनी मे आज की भौतिकता एवं विलासिता का रूप इस सृष्टि के आदिपुरुष मनु द्वारा विकसित सारस्वत प्रदेश के नव-निर्माण में भी देखा जा सकता है। मनु नित्य विलासी देव-जाति के अंश थे। इसीलिए जब उन्होंने सारस्वत प्रदेश का नव-निर्माण किया, तब उसमे भी स्वतः ही भौतिकता एवं विलासिता की प्रधानता हो गई। अंततः भोग की तीव्र आकांक्षा के कारण मनु को इड़ा की भर्त्सना और अपनी ही प्रजा के विद्रोह का सामना करना पड़ा।

जब मनुष्य की चेतना विलास-भावना की अधिकता से आच्छादित हो जाती है, तब मनुष्य प्राणवान होते हुए भी संज्ञाहीन हो जाता है। कामायनी में प्रसादजी ने देवताओं के ह्रास-विलासमय जीवन के नाश के माध्यम से अपने युग को भौतिकतापूर्ण विलासिता के प्रति सचेत भी किया है। कामायनी की रूपकात्मक कथा में देवता इन्द्रियों के प्रतीक हैं। महाप्रलय की लहरों में देव-सृष्टि के नाश का प्रतीकार्थ है कि जब इन्द्रियाँ अत्यधिक भोग-विलास की ओर उन्मुख हो जाती है, तब एक प्रकार की मानसिक प्रलय होती है और जीव की

---

१. कामायनी—ईर्ष्या, पृ० १६५

संज्ञा नष्ट हो जाती है। यह प्रतीकार्थ जीवन के दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में आज के विलास-मग्न मानव के लिए एक सन्देश है। इस रूप में प्रसादजी वर्तमान के विज्ञाता ही नहीं भविष्य के द्रष्टा भी है। देव-जाति के नाश द्वारा उन्होंने देव-जाति की ही भाँति भोग-विलास की ओर आकृष्ट आज की मानव-जाति को उसके अन्धकारमय भविष्य के प्रति जागरूक किया है कि यदि आज की मानव-सभ्यता भी भौतिकता और विलासिता के उन्माद में लीन रही तो वह भी उसी प्रकार नष्ट हो सकती है, जिस प्रकार देव-सभ्यता नष्ट हुई थी।

संकुचित भेद-बुद्धि

आज जैसे-जैसे विज्ञान की सहायता से हमारा जीवन समृद्ध होता जा रहा है, वैसे-वैसे हम अपने से कटते चले जा रहे है। समाज में नित्य नए-नए वर्ग-संघर्षों की सृष्टि हो रही है। भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वानों के अनुसार हिन्दू समाज में प्रारम्भ में वर्ण-विभाजन कर्मानुसार था। कोई भी व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार किसी वर्ग-विशेष का अंग समझा जाता था। सभी वर्गों के अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्म निश्चित थे और इसीलिए समाज के सन्तुलित विकास के हेतु प्रत्येक वर्ग की अपनी उपादेयता थी। उच्च, उच्चतर अथवा निम्न, निम्नतर वर्गों की कोटियाँ समाज में नहीं थी। किन्तु जैसे-जैसे हिन्दू समाज की दृष्टि संकुचित होती गई, वैसे-वैसे व्यक्ति भी कर्म से नहीं, जन्म से ही किसी वर्ग-विशेष से सम्बद्ध माना जाने लगा। संकुचित दृष्टिकोण के कारण ही समाज के विभिन्न वर्णों में ऊँच-नीच की भावना पल्लवित हुई। वर्ग-विभाजन पर आधृत इस संकुचित मनोवृत्ति ने ही अजेय आर्य-जाति की असीम शक्ति को विश्रृंखलित कर दिया और उसे अनेक बाह्य शक्तियों के सामने पराजित होना पड़ा। वर्तमान युग में हमारी दृष्टि विभिन्न वर्णो की उच्चता और निम्नता के आधार पर ही नहीं, धर्म एवं भाषा के आधार पर भी संकुचित हो चुकी है। वर्ण-व्यवस्था, भाषा, धर्म, प्रांतीयता आदि के नाम पर आज नित्य नए-नए संघर्ष होते हैं, जिनसे एकता अनेकता में विखंडित हो जाती है। आज हम स्वयं अपनी ही नई-नई अनजान समस्याओं में उलझते चले जा रहे है। भौतिक सुख-समृद्धि के होते हुए भी हमारे जीवन में शान्ति नहीं है। चारों ओर अविश्वास, अतृप्ति और अभुक्त वासनाओं का कोलाहल व्याप्त है। कामायनी

वस्तुत. श्रद्धा के भव्य, उदात्त व्यक्तित्व के माध्यम से प्रसादजी ने आज के नारी-स्वातन्त्र्य को अभिव्यंजित किया है। किन्तु यह नारी-स्वातन्त्र्य पश्चिम का नारी-स्वातन्त्र्य नही है जिसे प्राप्त कर पश्चिम की नारी रूप-सौंदर्य की ज्वाला से दीप्त विलासिता और उन्मुक्त आचरण की प्रतीक बनती जा रही है। कामायनी मे श्रद्धा और इडा दोनो आज के नारी-जागरण की प्रतीक हैं, किन्तु कही भी उनका व्यक्तित्व विशृंखलित नही है। श्रद्धा मे यदि विश्वास-मयी रागात्मक भावनाओं का प्राधान्य है, तो इड़ा के व्यक्तित्व मे बुद्धि एवं ज्ञान-विज्ञान की प्रचुरता है। दया, ममता और करुणा की भावना तो दोनो में ही है। श्रद्धा मनु के द्वारा प्रवंचित होकर भी उन्हें आनन्द-प्राप्ति के लिए कैलाश-शिखर पर ले जाती है। इसी प्रकार इड़ा के मन मे भी यद्यपि मनु के काम-दीप्त आचरण के कारण क्षोभ उत्पन्न होता है, किन्तु जब मनु प्रजा के विद्रोह का सामना करते हुए मूर्च्छित हो जाते हैं, तब इड़ा का हृदय उनके प्रति नारी-सुलभ करुणार्द्रता से द्रवित हो उठता है। रात्रि के विषम अंधकार मे भी वह क्षत-विक्षत मूर्च्छित मनु के पास बैठी हुई उनके प्रबुद्ध होने की उत्कंठापूर्वक प्रतीक्षा करती है। इस रूप में श्रद्धा और इड़ा दोनों का व्यक्तित्व नारी-सुलभ करुणा से संवलित है। दोनों आज के नारी-जागरण की प्रतीक है। श्रद्धा और इड़ा दोनों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, जिससे प्रभावित होकर नव-मानवता के प्रतीक मनु-पुत्र कुमार के जीवन का विकास होता है। इस प्रकार कामायनी मे आधुनिक नारी के जिस रूप की व्यंजना है, वह रूप अपनी गरिमा और भव्यता द्वारा अपने सम्पर्क मे आने वाले पुरुष के अहंकारी चित्त का सस्कारक है। मानव के युग-युग के पुरुषार्थ का प्रेरक है। आधुनिक नारी का यह स्वरूप विवेच्य महाकाव्य मे ही नही, प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों मे भी देखा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि कामायनी अतीत के आयाम पर वर्तमान की अभिव्यक्ति है। मनु, श्रद्धा और इड़ा के माध्यम से प्रसादजी ने वस्तुतः आज के मानव की आशा-निराशा, दुर्बलता और जिज्ञासा को अभिव्यक्त किया है। शास्त्रीय दृष्टि से अभिधा की अपेक्षा लक्षणा और व्यंजना में अधिक चमत्कार होता है। कामायनी में भी वर्तमान का स्वर व्यंजित है, प्रत्यक्ष रूप मे उसकी अभिव्यक्ति नही है। यदि प्रसादजी कामायनी की ऐतिहासिक-पौराणिक कथा के अन्तर्गत वर्तमान युग की परिस्थितियों का

प्रत्यक्ष चित्रण करते तो निश्चय ही कथावस्तु के भव्य सौन्दर्य मे काल सम्बन्धी दोष उत्पन्न हो जाता। प्रसादजी ने जिस अद्भूत निपुणता के साथ अतीत की घटनाओ के अन्तर्गत वर्तमान युग को ध्वनित किया है, उससे कामायनी का वस्तु-विन्यास काल सम्बन्धी दोष से सर्वथा मुक्त होने के साथ-साथ नाटकीय, वस्तु-विधान के लिए आवश्यक 'संकलन-त्रय' (Unity of Time, Place and Action) के गुण से भी अभिमंडित है। भौतिकता के उन्माद मे मग्न आज के विशृंखलित समाज को प्रसादजी ने अतीत के विराट आयाम पर 'समरसता' का जो स्वर्णिम संदेश दिया है, उसे ग्रहण कर आज का मानव अपनी सभी उलझी हुई समस्याओ का स्वयं समाधान कर सकता है। इस रूप मे कामायनी अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान युग-संचेतना का एक ऐसा मनोवैज्ञानिक इतिहास है जिसमें भविष्य की मधुमयी संकल्पनाएँ भी छिपी हुई हैं।

प्रश्न १३—'चिति', 'शून्य', 'भूमा', 'पंचकंचुक—कला, विद्या, राग, काल, नियति', 'समरसता', 'उन्मन'—कामायनी में प्रयुक्त इन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या कीजिए।

कामायनी मानव की ऊर्ध्व चेतना का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक इतिहास है। इस विवेच्य महाकाव्य में मनु, श्रद्धा के प्रथम मिलन से लेकर उनकी मानसरोवर यात्रा तक की प्रत्यक्ष भौतिक कथा तो स्वतः स्पष्ट है, किन्तु इस ऐतिहासिक-पौराणिक कथा के साथ-साथ मानव मन की बद्धावस्था से लेकर मुक्तावस्था तक की जो रूपात्मक कथा संलग्न है, वह मनोविज्ञान एवं शैव-दर्शन के पारिभाषिक शब्दो से आवेष्टित होने के कारण अत्यन्त गूढ़ एवं गम्भीर है। 'चिति', 'भूमा', 'समरसता', 'कला', 'विद्या', 'राग', 'नियति' प्रभृति शब्दों का विशिष्ट अर्थ है और इन शब्दो के अर्थ-गाम्भीर्य का सम्यक् ज्ञान हुए विना 'कामायनी' का अध्ययन-अनुशीलन सम्भव नही है। इस सन्दर्भ में डॉ० नगेन्द्र का भी यही मत है कि "प्राचीन आर्य-संस्कृति के उपाख्यान के साथ अनुस्यूत जिन पारिभाषिक शब्दो का प्रसादजी ने प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया है उनके अर्थो की एक दीर्घ परम्परा है। यह परम्परा वेदों से लेकर शैवागमों तक और आदियुग के भाषाशास्त्र से लेकर आधुनिक मनोविज्ञान तक विस्तृत है। इन शब्दो मे जहाँ एक ओर युग-परम्परागत अर्थो के अनेक अन्तःसूत्र गुम्फित हैं, वहाँ दूसरी ओर प्राच्य दर्शन-शास्त्र और नवीन मनोविज्ञान की अनेक

उपपत्तियाँ भी अन्तर्हित हैं। यही कारण है कि इन पारिभाषिक शब्दों का सर्वांग-रूप से शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक अध्ययन किये बिना कामायनी का अर्थ स्पष्ट नही हो सकता।"

चिति

'चिति' का सामान्य अर्थ है सामूहिक चेतना अथवा चैतन्य भाव। महाचिति, महाचेतना, चित्, चैतन्य आदि शब्द 'चिति' के ही समानार्थक हैं। शिवमहापुराण के अनुसार शिव और शक्ति का समायोग परमात्मा है। परमात्मा ही पराशक्ति है। इस पराशक्ति से 'चिच्छक्ति' उत्पन्न होती है और फिर इस 'चिच्छक्ति' से आनन्द, आनन्द से इच्छा, इच्छा से ज्ञान और ज्ञान से क्रियाशक्ति का उद्भव होता है। इस प्रकार सृष्टि निर्माण के रचना-चक्र मे 'चिति' ऐसी आधारभूत आद्याशक्ति है जिससे क्रमश. आनन्द, इच्छा, ज्ञान और कर्म आदि अन्य शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। शैवसूत्रो मे कही-कही 'चैतन्य' के द्वारा 'आत्मा' के स्वरूप को भी अभिव्यंजित किया गया है – "**चैतन्य मात्मा।**"[1] किन्तु जहाँ कही 'आत्मा' के अर्थ में 'चैतन्य' का प्रयोग हुआ है, वहाँ 'आत्मा' के द्वारा वस्तुतः परमात्मा के ही स्वरूप की व्यंजना हुई है। 'योगवासिष्ठ' के अनुसार यह अखिल विश्व इसी 'महाचिति' की शक्ति से परिचालित है। इस विश्व के जड़-चेतन सभी पदार्थ 'महाचिति' के ही विविध स्वरूप हैं। 'प्रत्यभिज्ञाहृदयं' मे 'सृष्टि', स्थिति, विलय, अनुग्रह और संहार— 'चिति' के ये पाँच कृत्य माने गए है। महाचिति अपनी स्वेच्छा से निरन्तर इन पाँच कृत्यों मे लीन रहती है। इस प्रकार शैव-दर्शन मे शिव और शक्ति की समष्टि को पराशक्ति' माना गया है और 'चिति' इसी पराशक्ति का लीलारूप है—शिव और शक्ति का संयोग = परमात्मा, परमात्मा = पराशक्ति, पराशक्ति = चिति।[2] यह सारा विश्व उसी की इच्छा का परिणाम है—

"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।"

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी—१/१

२. "शिवशक्ति समायोगः परमात्मेति निश्चितम्।
पराशक्तेस्तु संजाता चिच्छक्तिस्तदुद्भवा॥"
—शिवमहापुराण, कैलास-संहिता, १६, ५४-५५

'कामायनी' में 'चिति' के इस स्वरूप की अभिव्यक्ति अनेक प्रसंगों में हुई है। सर्वप्रथम 'चिंता' सर्ग में ही प्रसादजी ने महाप्रलय का चित्रण करते हुए सर्वत्र एक ही तत्व के प्रसार की ओर संकेत किया है। क्योंकि सृष्टि के सभी पदार्थ चाहे वे तरल हों अथवा सघन, जड़ हों या चेतन इसी 'महाचिति' के विविध स्वरूप हैं—

"नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन;
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन ॥"[1]

'श्रद्धा', 'दर्शन' तथा 'आनन्द' शीर्षक सर्गों में तो स्पष्टतः शैवागमों की पारिभाषिक शब्दावली में इस विश्व को महाचिति की इच्छा का परिणाम कहा गया है—

"कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त।"[2]

"चिति का स्वरूप यह नित्य जगत
वह रूप बदलता है शत-शत;
कण विरह-मिलनमय नृत्य-निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।"[3]

'चिति'-स्वरूप होने के कारण ही अपने दुख-सुख से पुलकित विश्व भी मूलतः सत्य एवं सुन्दर है—

"अपने दुख-सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर;

---

१. कामायनी—चिंता, पृ० १३
२. वही—श्रद्धा, पृ० ६३
३. वही—दर्शन, पृ० २५४

चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य, सतत, चिरसुन्दर।"[१]

जिस प्रकार से इस विश्व का उन्मीलन 'महाचिति' से होता है, उसी प्रकार से इस विश्व का लय भी उसी महाशक्ति मे हो जाता है। 'काल' जैसा प्रबल तत्त्व भी अन्ततः उसी महाचिति के विराट स्वरूप में विलीन हो जाता है—

"देश-कल्पना काल-परिधि में होती लय है,
काल खोजता महाचेतना में निज क्षय है।"[२]

जीव की चेतना जब तक षट् कंचुकों एवं तीन मलों से आवेष्टित रहती है, तब तक उसे जगत् के इस मंगलमय स्वरूप का अभिज्ञान नहीं हो पाता और उसके मन में सदैव द्वयता का भाव बना रहता है—और द्वयता के भाव के कारण ही इस संसार में नाना संघर्षों की सृष्टि होती है। जब मनुष्य का मन 'कंचुकों' के पाश से मुक्त हो जाता है, तब 'समरसता' की स्थिति में उसके सामने इस विश्व का सम्पूर्ण रहस्य, नियति का मंगलमय स्वरूप स्वतः उद्घाटित हो जाता है—

"चेतन का साक्षी मानव
हो निर्विकार हँसता-सा;
मानस के मधुर मिलन में
गहरे-गहरे धँसता-सा।

सब भेद-भाव भुलवाकर
दुख-सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे! "यह मैं हूँ"
यह विश्व नीड़ बन जाता।"[३]

शून्य

(क) 'शून्य' के अनेक अर्थ हैं—न्यूनता, असारता, अभावात्मकता, रिक्तता, निर्जनता आदि। वैदिक मंत्रों में 'शून्य' अथवा 'शून' का प्रयोग रिक्त स्थान

१. कामायनी—आनन्द, पृ० ३००
२. वही—संघर्ष, पृ० २०५
३. वही—आनन्द, पृ० ३०१

अथवा निर्जनता के अर्थ मे हुआ है। कामायनी में भी कहीं-कहीं रिक्तता, निर्जनता, अभावात्मकता आदि के सामान्य अर्थ में 'शून्य' शब्द का प्रयोग हुआ है—

"कह, ज्वलनशील अंतर लेकर,
मनु चले गये, था शून्य प्रांत।"[1]

(ख) 'शून्य' भारतीय दर्शन का पारिभाषिक शब्द भी है। बौद्धधर्म के अन्तर्गत माध्यमिक मत के अनुयायी 'परमार्थ सत्य' को 'शून्य' के नाम से अभिहित करते है। माध्यमिक मत के आचार्यों के अनुसार 'शून्य' का अर्थ 'निषेध' या 'अभाव' नही है—"वस्तु न तो ऐकान्तिक सत् है और न ऐकान्तिक असत्, प्रत्युत उसका स्वरूप इन दोनों (सत्-असत्) के मध्य बिन्दु पर ही निर्णीत हो सकता है जो शून्य रूप ही होगा। शून्य 'अभाव' नही है, क्योंकि अभाव की कल्पना सापेक्ष कल्पना है…यह शून्य ही सर्वश्रेष्ठ अपरोक्ष तत्त्व है। इस प्रकार माध्यमिक आचार्य 'शून्याद्वैतवाद' के समर्थक हैं। यह समस्त नामात्मक प्रपंच इसी शून्य का ही 'विवर्त' है।"[2] कामायनी में बौद्धदर्शन के इस 'शून्यवाद' की प्रतिष्ठा केवल एक-दो स्थलों पर ही हुई है—

"हँस पड़ा गगन वह शून्य लोक
जिसके भीतर बस कर उजड़े कितने ही जीवन-मरण-शोक,
कितने हृदयों के मधुर मिलन क्रंदन करते बन विरह कोक।"[3]

इन पंक्तियों में जिस शून्यलोक का वर्णन है, वह माध्यमिक मत के आचार्यों के अभिमतानुसार वस्तु के सत्-असत् अथवा अस्ति-नास्ति के मध्य बिन्दु पर अधिष्ठित है। इस शून्यलोक के अन्तर्गत पदार्थमय जगत् का बसना और फिर बसकर उजड़ना क्रमशः सत् अथवा अस्ति एवं 'असत्' अथवा 'नास्ति' का अभिव्यंजक है। इसी प्रकार से जीवन-मरण, मिलन-विरह भी सत्-असत् के प्रतिपादक हैं।

(ख) महाभारत में भीष्म ने विष्णु के अनेक नामों का उल्लेख करते हुए उन्हें 'शून्य' नाम से भी अभिहित किया है। शंकराचार्य के अनुसार सभी प्रकार

---

१. कामायनी—ईर्ष्या, पृ० १६६
२. बौद्धदर्शन (पं० बलदेव उपाध्याय) पृ० ३५६-३५७
३. कामायनी—इड़ा, पृ० १८३

के विशेषणो, प्रकृतियो तथा गुणों से रहित होने के कारण ही विष्णु शून्यवत् है—"सर्वविशेष रहितत्वात् शून्यवत् शून्यः।" वेदान्त-दर्शन में शून्य शब्द 'निखिल सत्ता' का व्यंजक है। विज्ञानवाद में यह शब्द परमार्थ सत्ता के स्वरूप का बोधक है। 'विज्ञानभैरव' में इस शून्य को 'भैरव-तत्त्व' के नाम से विवक्षित किया गया है और इस अखिल विश्व को शून्यातिशून्य कहा गया है। अपने मन को उस परमशून्य में लीन कर देने के उपरान्त ही साधक चरम तन्मयता की स्थिति को प्राप्त करता है—

"विश्वमेतन्महादेवि शून्यभूतं विचिंतयेत्।
तत्रैव च मनोलीनं ततस्तल्लय भाजनम्॥"

सिद्ध-साहित्य मे इस 'शून्य' का वर्णन द्वयता से मुक्त अद्वय-तत्त्व के रूप मे मिलता है। यह अभाव तथा भाव के समंजित रूप से पृथक् एक मध्यम तत्त्व है। वज्रयानी सिद्धो के महासुखचक्र में यह तत्त्व 'महासुख' और 'केवलावस्था' के रूप मे अभिज्ञात है। इनके साधना-क्रम में शून्य के चार स्वरूप हैं—शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य। इस क्रम में शून्य से महाशून्य तक १०६ दोष माने गए हैं। किन्तु अंतिम 'सर्वशून्य' आदि-अंत, भाव-अभाव, गुण-दोषों से मुक्त 'परम-तत्त्व' है। नाथ-सम्प्रदाय मे भी शून्य को 'परम-तत्त्व' माना गया है।

शैवागमों में 'शून्य' को शिवतत्त्व-स्वरूप माना गया है। 'स्वच्छंदतंत्र' में साधक के लिए छः शून्यों का परित्याग कर सप्तम शून्य में तल्लीन होने का आदेश है—"षट् शून्यानि परित्यज्य सप्तमे तु लयं कुरु।" इन छ शून्यों का क्रम इस प्रकार है—अध.शून्य, मध्यशून्य, ऊर्ध्वशून्य, व्यापिनीशून्य, समनाशून्य, उन्मनाशून्य। जब साधक का मन अधःशून्य से लेकर उन्मनाशून्य तक छः शून्यो का अतिक्रमण करने के उपरान्त सप्तम शिव-तत्त्व रूप शून्य मे विलीन हो जाता है, तब जीवात्मा भी सर्वव्यापक एवं शून्य हो जाती है। सप्तम शून्य अथवा शिव-तत्त्व वास्तव में अशून्य है। क्योंकि वह परम शिव-तत्त्व सच्चिदानंद है। उसे शून्य इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसमें सदैव प्रमेय रूप से विद्यमान प्रपंच का अभाव रहता है। कामायनी मे भी 'स्वच्छंदतंत्र' के "अशून्यं शून्यमित्युक्तम्" के सिद्धात की अभिव्यक्ति हुई है—

"वह शून्य असत या अन्धकार,
अवकाश पटल का वार-पार;

बाहर-भीतर उन्मुक्त सघन,
था अचल महा नीला अंजन,
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन,
थे निर्निमेष मनु के लोचन;
इतना अनन्त था शून्य-सार,
दीखता न जिसके परे पार ॥"[1]

यहाँ 'शून्य' के साथ 'सार' का प्रयोग साभिप्राय एवं सार्थक है। 'शून्य' के साथ 'सार' के प्रयोग द्वारा परमशून्य अर्थात् शिव-तत्त्व के 'अशून्य' रूप को अभिव्यंजित किया गया है। क्योंकि वह शून्य=परम शिव-तत्त्व नाना प्रकार के गुण-दोषों, भावों-अभावों से मुक्त होते हुए भी सच्चिदानंद (सत्, चित्, आनंद स्वरूप) है, इसीलिए शून्य होते हुए भी अशून्य है, सारयुक्त है।

इस प्रकार 'शून्य' शब्द भारतीय वाङ्मय मे विविध अर्थों का व्यंजक है। 'कामायनी' में भी 'शून्य' शब्द प्रसंगानुसार विविध अर्थों से संयुक्त है। कही उसका प्रयोग रिक्त-स्थान, निर्जनता, अभावात्मकता के सामान्य अर्थ में है, तो कही शैव-दर्शन के परम-तत्त्व की अभिव्यंजना के लिए उसका प्रयोग हुआ है। एक-दो स्थलों पर 'शून्य' शब्द बौद्ध-दर्शन के 'शून्य' सिद्धांत को भी अभिज्ञापित करता है।

भूमा

'भूमा' शब्द मूलतः बाहुल्य अथवा प्राचुर्य का वाचक है—'अतिशयेन बहु इति भूमा।' वैदिक मंत्रों में भी 'भूमा' का प्रयोग बाहुल्य अथवा प्राचुर्य के ही अर्थ में हुआ है। अनेक वैदिक मंत्रों में धन-धान्य की अभिवृद्धि और प्रचुरता के लिए अग्नि, चन्द्र, सूर्य आदि देवताओं से प्रार्थना की गई है। इस प्रकार के मंत्रों में अन्न, जल, पशु-सम्पत्ति आदि की अतिशयता एवं बहुलता के अर्थ में 'भूमा' शब्द का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद के निम्नोद्धृत मंत्र मे पूषण् देवता से अन्न, पुरुष बल और पशु-सम्पत्ति के प्राचुर्य के लिए याचना की गई है—

"त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन।
अन्नस्य भूमा, पुरुषस्य भूमा, भूमा पशूनां त इह श्रयंताम्।"

—अथर्ववेद, ५-२८-३

---

१. कामायनी—दर्शन, पृ० २६३

'छांदोग्योपनिषद' में यह शब्द दिव्यामृत, निरतिशय सुख तथा ईश्वर के विराट् रूप का अभिव्यंजक है—"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।" (छांदोग्योपनिषद् ७-२३-१) इस मंत्र का अर्थ है कि 'जो भूमा है वही वास्तविक सुख है, अल्प में सुख नहीं है। सुख भूमा ही है। भूमा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।" जैमिनीय उपनिषद्-ब्राह्मण में 'भूमा' को एक महान पद माना गया है, जिसकी प्राप्ति आत्म-सुख के विस्तार के द्वारा ही सम्भव है। श्री निम्बार्काचार्य ने 'भूमा' को 'ब्रह्म' के अर्थ मे ग्रहण किया है—'भूमा' शब्दवाच्यो ब्रह्म इत्यर्थः।'

प्रसादजी ने विवेच्य महाकाव्य के 'श्रद्धा' सर्ग मे विश्व के स्वरूप की व्याख्या करते हुए इस 'भूमा' शब्द का प्रयोग किया है—

"विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान;
यही दुख-सुख-विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान॥"[1]

इन पंक्तियों में इस सृष्टि के अस्तित्व की व्याख्या की गई है—(क) यह संसार वैषम्य-युक्त है (ख) निरंतर गतिशील है (ग) सुख और दुःख—दोनों से अभिसिक्त है (घ) यही इस विश्व का वास्तविक स्वरूप है (ङ) और यही (सुख-दुःख मिश्रित वैषम्यमयी गतिशीलता) 'भूमा' का मधुमय दान है। यहां भूमा के दान के लिए 'मधुमय' विशेषण साभिप्राय एवं सार्थक है। क्योंकि भूमा का यह दान वस्तुतः कटु एवं तीक्ष्ण नहीं है। जब तक जीव विविध पाशों मे आबद्ध रहता है, तब तक उसे यह विश्व कटु प्रतीत होता है और बंधन-मुक्त हो जाने पर जब उसे सर्वत्र अपने ही रूप का विस्तार दिखाई देता है तब यह विश्व उसे 'भूमा' का वरदान होने के कारण आनन्दमय प्रतीत होने लगता है। स्पष्टतः यहाँ भूमा के दान से अभिप्राय ईश्वर के अनुग्रह से है। तंत्रालोक में भी ईश्वर, जो कि अधिपति है—के उत्पति, स्थिति, संहार एवं विलय - ये पांच कार्य माने गए है—

"इत्थं सृष्टिस्थिति ध्वंसतिरोभावमनुग्रहः।
इति पंचसु कर्त्तत्वं 'शिवत्वं संविदात्मनः।"

---

१. कामायनी—श्रद्धा, पृ० ६४

उपनिषदों में जिस आत्म-विस्तार को, व्यष्टि की अपेक्षा समष्टिगत सुख के ग्रहण को, 'भूमा' कहा गया है, वही 'कामायनी' का भी मूल संदेश है—

"औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ।"[1]

पंच कंचुक

कामायनी के इड़ा सर्ग में काम के अभिशाप के अन्तर्गत कला, विद्या, राग, काल और नियति—इन पाँच कंचुकों का उल्लेख हुआ है—

"संकुचित असीम अमोघ शक्ति।
जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति।
या कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी-सी महाशक्ति।
व्यापकता नियति-प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बन्द,
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छन्द।
कर्तृत्व सकल बन कर आवे नश्वर छाया-सी ललित-कला,
नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरंतर चले ढला।
तुम समझ न सको, बुराई से शुभ इच्छा की है बड़ी शक्ति।
हो विफल तर्क से भरी युक्ति।"[2]

शैवदर्शन में शिव से पृथ्वी तक छत्तीस तत्त्व माने गए हैं और इन्ही तत्त्वों के अन्तर्गत कला, विद्या, राग, काल और नियति—इन पाँच तत्त्वों को कंचुक माना गया है। ये पाँच तत्त्व माया से उत्पन्न होते है और इसीलिए 'तंत्रालोक' आदि ग्रंथों मे माया सहित षड्कंचुक स्वीकार किए गए हैं। ये कंचुक पाशजाल अथवा बंधन है और जीवात्मा मुक्तावस्था से पूर्व इनसे आवृत रहती है—'कलाविद्यारागकालनियतिर्बन्ध उच्यते।' 'प्रत्यभिज्ञाहृदयं' के अनुसार परमात्मा की सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, पूर्णता, नित्यता एवं व्यापकता नामक शक्तियाँ ही संकुचित होकर इस विश्व में इन कंचुकों के रूप में भासित होती हैं—

---

१. कामायनी—कर्म, पृ० १४२
२. वही—इड़ा, पृ० १७७

परमात्मा की शक्ति	कंचुक
सर्वकर्तृता	कला
सर्वज्ञता	विद्या
पूर्णता	राग
नित्यता	काल
व्यापकता	नियति

कला—शैवागमों में 'कला' नामक कंचुक को 'किंचित्कर्तृत्व' के रूप में स्पष्ट किया गया है। जीवात्मा जिस समय माया के प्रभाव के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाती है, उस समय उसकी क्रिया-शक्ति की व्यापकता भी सीमित हो जाती है और वह 'किंचित्कर्तृत्व' से संपृक्त हो जाती है। 'मृगेन्द्रतंत्र' मे इसे दीपक के समान कहा गया है। जिस प्रकार से दीपक अन्धकार में किंचित् प्रकाश की सृष्टि करता है उसी प्रकार माया-जन्य अन्धकार में 'किंचित्कर्तृत्व' स्वरूप इस कंचुक से ज्ञान एवं क्रिया का सीमित आलोक प्रकट होता है। शैवदर्शन के अनुसार परमात्मा की 'सर्वकर्तृता' नामक शक्ति ही इस विश्व में संकुचित होकर 'किंचित्कर्तृत्व' 'स्वरूप' 'कला' कहलाती है। कामायनी में भी 'काम' के अभिशाप के रूप में यही कहा गया है—

संकुचित असीम अमोघ शक्ति

× × ×

कर्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया-सी ललित कला।[1]

काम के इस अभिशाप के कारण 'मनु' भी इस कंचुक से अभिभूत हो जाते हैं और उनकी शक्ति 'किंचित्कर्तृत्व' तक सीमित हो जाती है। किन्तु फिर भी उनके मन में 'सर्वकर्तृत्व' का मिथ्याभिमान बना रहता है और वे स्वयं को सर्वनियंता समझने लगते हैं। प्रजापति होने के दम्भ में वे इड़ा पर भी अधिकार करना चाहते हैं। उनके इस उद्दीप्त 'अहं' के विरुद्ध प्रजा विद्रोह कर देती है, जिससे उनका समस्त रचना-तंत्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। अन्त में जब वे श्रद्धा की अनुकम्पा से 'समरसता' की स्थिति पर पहुंचते हैं, तब वे 'किंचित्कर्तृत्व' से मुक्त होकर 'सर्वकर्तृत्व' का मधुमय आलोक प्राप्त करते हैं—

---

१. कामायनी—इड़ा, पृ० १७७

"प्रतिफलित हुईं सब आँखें
उस प्रेम-ज्योति विमला से;
सब पहचाने-से लगते
अपनी ही एक कला-से।"[1]

विद्या

वेदों एवं उपनिषदों में 'विद्या' का जो अर्थ उपलब्ध होता है, कामायनी में वर्णित 'विद्या' का अर्थ उससे भिन्न है। उपनिषदो में 'विद्या' के साथ-साथ 'अविद्या' का भी वर्णन किया गया है। अविद्या का अर्थ है 'अग्निहोत्रादि कर्म' तथा विद्या का अर्थ है 'आत्म-ज्ञान'। 'ईशा वास्योपनिषद् के अनुसार जो मनुष्य विद्या (ज्ञान-तत्त्व) और अविद्या (कर्म-तत्त्व) दोनों को साथ-साथ जान लेता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृत को अर्थात् देवात्मभाव को प्राप्त कर लेता है—

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभय् सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥"[2]

कामायनी में 'विद्या' का प्रयोग मायाजन्य एक कंचुक के रूप में हुआ है। शैवागमों के अनुसार परमात्मा की 'सर्वज्ञता' नाम की शक्ति ही संकुचित होकर इस संसार में 'विद्या' के रूप में आभासित होती है। इसके प्रभाव से जीवात्मा की 'सर्वज्ञता' सीमित हो जाती है, किन्तु सर्वज्ञता का उसका मिथ्याभिमान बना रहता है। कामायनी में इसका उल्लेख 'इड़ा' सर्ग में काम के शाप के रूप में हुआ है—

'सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छंद।"[3]

कंचुक के रूप में 'विद्या' से अभिप्राय वस्तुतः शुद्ध विद्या से नही है। विद्या का अशुद्ध रूप ही कंचुक है। शुद्ध विद्या तो वास्तव में आधारभूत तीन तत्त्वो में से एक है—आत्म-तत्त्व, विद्या-तत्त्व और शिव-तत्त्व। विद्या के इन दो रूपों को सद्विद्या एवं कंचुकरूपिणी विद्या भी कहा गया है। शैव-ग्रंथों मे

---

१. कामायनी—श्रद्धा, पृ० ३०६
२. ईशावास्योपनिषद्—मंत्र सं० ११
३. कामायनी—इड़ा, पृ० १७७

"मृत्यु, अरी चिर-निद्रे ! तेरा
अंक हिमानी-सा शीतल,
तू अनन्त में लहर बनाती
काल-जलधि की-सी हलचल।"[1]

नियति—(क) 'नियति' एक व्यापक शक्ति है। प्रसादजी ने कामायनी के अतिरिक्त अपने नाटकों में भी इस अदृश्य शक्ति की सर्वव्यापकता की ओर संकेत किया है।[2] 'हलायुध कोश' के अनुसार नियति वह शक्ति है जिससे आत्मा निबद्ध होती है—"नियति नियम्यते आत्मा अनयेति।" 'नियति' केवल 'भाग्य' का पर्याय नहीं है। क्योंकि इसका स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। योगवासिष्ठ में नियति को महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महोद्भव, महास्पंद आदि कहा गया है। परब्रह्म नियामक है और नियति इसकी नियामिका शक्ति है। इसी के द्वारा परब्रह्म का सृजन-कार्य पूर्ण होता है। नियति ही सभी प्राणियों का धर्म निश्चित करती है। नियति के द्वारा ही प्राणियों के कर्म-चक्र का संचालन होता है। इसके अतिरिक्त 'नियति' सृष्टि के विविध पदार्थों में वैषम्य का भी निरोध करती है और उनमें संतुलन को केन्द्रित करती हुई विश्व के विकास-क्रम को गतिशील बनाए रहती है। भारतीय दर्शन की प्राय: सभी विचारधाराओं में ब्रह्म, जीव और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों को स्वीकार किया गया है और इस प्रकार 'नियति' के भी तीन रूप हैं—

(क) ब्रह्म की नियामिका शक्ति
(ख) जीव की कर्म-नियोजिका शक्ति
(ग) प्रकृति की वैषम्य-निरोधिका शक्ति

कामायनी में 'नियति' के इन तीनों रूपों की अभिव्यक्ति हुई है। हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर चिंता-मग्न, निश्चेष्ट बैठे हुए मनु को नियति ही कर्म की ओर प्रेरित करती है—

---

१. कामायनी—चिंता, पृ० २८
२. ध्रुवस्वामिनी—"……यही क्या विधाता का निष्ठुर विधान है ? छुटकारा नहीं ? जीवन नियति के कठिन आदेश पर चलेगा ही ? तो क्या यह मेरा जीवन भी अपना नहीं ?"

—ध्रुवस्वामिनी—प्रथम अंक, पृ० २६

"उस एकांत नियति-शासन में
चले विवश धीरे-धीरे;
एक शांत स्पंदन लहरों का
होता ज्यों सागर-तीरे।"[1]

नियति ही इस विश्व के कर्म-चक्र की संचालक है—

"कर्म-चक्र-सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति-प्रेरणा
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा।"[2]

प्रकृति की वैषम्य-निरोधिका शक्ति के रूप में नियति। इस सृष्टि के विविध पदार्थों में परस्पर आकर्षण उत्पन्न करती है। यह आकर्षण ही सृष्टि के विकास का रहस्य है। अणु-परमाणु परस्पर आकृष्ट होकर नित्य नए-नए पदार्थों को सृजन करते हैं और इस प्रकार सृष्टि का रचना-चक्र चलता रहता है। 'कामायनी' में काम के अभिशाप के कारण मनु का रचना-तंत्र आकर्षण के स्थान पर परस्पर विकर्षणमयी व्याकुलता से संत्रस्त हो जाता है—

'तांडव में थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकल थे,
नियति विकर्षणमयी, त्रास से सब व्याकुल थे।"[3]

(ख) कामायनी में काम के अभिशाप के रूप में 'नियति' का वर्णन एक कंचुक के रूप में भी हुआ है। कला, विद्या, राग की भाँति यह भी एक बंधन है। शैवदर्शन के अनुसार जब परमात्मा की व्यापक स्वतन्त्रता नाम की शक्ति संकुचित होकर अन्य कंचुकों की भाँति एक पाश या जाल के रूप में जीव के कार्य-अकार्य का नियोजन करती है, तब उसे 'नियति' कहते है। कामायनी में 'नियति' के इस स्वरूप का चित्रण 'इड़ा' सर्ग में हुआ है—

"व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बंद॥"[4]

एकाग्र चित्त होकर ध्यान के द्वारा जीव इस 'नियति' रूपी कंचुक के पाश

---

१. कामायनी—आशा, पृ० ४४
२. वही—रहस्य, पृ० २७८
३. वही—संघर्ष, पृ० २१२
४. वही—इड़ा, पृ० १७७

से मुक्त हो सकता है। प्रसादजी ने भी 'आनन्द' सर्ग के अन्तर्गत समरसता की स्थिति में मनु के ध्यान-मग्न रूप की झाँकी प्रस्तुत की है—

"मनु बैठे ध्यान-निरत थे
उस निर्मल मानस-तट में;"[1]

इस प्रकार कामायनी में 'नियति' का चित्रण एक कंचुक के रूप में भी हुआ है और परमब्रह्म के द्वारा निर्मित इस विश्व की नियामिका शक्ति के रूप में भी। जीवात्मा शिवत्व को प्राप्त करके कंचुक रूप 'नियति' के पाश से मुक्त हो जाती है। कर्म-चक्र का बंधन भी छूट जाता है। किन्तु परब्रह्म की नियामिका शक्ति के रूप मे 'नियति' एक व्यापक शक्ति है। परमब्रह्म की भाँति वह भी अनन्त है।

समरसता

समरसता शैवदर्शन का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द 'सम+रस=समरस' से बना है। समरसता का अर्थ है दो समान रसों का मिलन, जैसे कि दूध में दूध का अथवा पानी में पानी का मिलन—**"क्षीर क्षीरसंयोगवत् सामरस्यम्"** तथा **"नीर नीर संयोगवत् अविभाज्यसंयोगः।"** लिंगायत दर्शन में इस सामरस्य को तादात्म्य से भिन्न माना गया है। दूध में दूध या जल में जल का मिलन समरसता है, किन्तु दूध में जल का मिलन तादात्म्य है क्योंकि इस दशा मे जल का स्वरूप दूध के स्वरूप मे परिवर्तित हो जाता है। यह समरसता परम आनन्द की स्थिति है, जहाँ पहुँचकर अभेदत्व अथवा शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है, जिसे मोक्ष की स्थिति भी माना गया है। जैसे एक नदी सागर मे मिलकर सामरस्य को प्राप्त करती है, नदी और सागर में किसी प्रकार का भेद नहीं रह जाता, इसी प्रकार आत्मा भी जिस स्थिति पर पहुँचकर 'शिवत्व' को प्राप्त करती है उसे 'समरसता' कहते हैं। इस स्थिति में साधक का मन उस परमसत्ता में इस प्रकार से लीन हो जाता है कि उसे आराधक और आराध्य का भेद-ज्ञान ही नहीं रहता, वह तो समरसता की इस स्थिति में सदैव आनन्द-पद में ही तल्लीन रहता है—

**"नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते।
आनंदपद संलीनं मनः समरसीगतम्॥"**

---

१. कामायनी, आनन्द, पृ० २६७

'नेत्रतंत्र' के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य है 'आनन्द' की उपलब्धि और समरसता की स्थिति इस आनन्द की प्राप्ति का साधन है। जीव पहले समरसता को प्राप्त करता है और फिर उसे चरम आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार 'आनन्द' और 'समरसता' में साध्य और साधन का सम्बन्ध है। समरसता साधन है और आनन्द साध्य। दोनों का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। क्योंकि 'समरसता' की स्थिति को प्राप्त करते ही आनन्द की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। 'समरसता' की स्थिति पर पहुँचने के उपरान्त आनन्द की प्राप्ति में राग आदि पंच कंचुकों की कोई भी बाधा शेष नही रह जाती।

वैदिक वाङ्मय में 'समरसता' के इस अर्थ मे अद्वैत, सायुज्य, सामंजस्य, समन्वय आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। कामायनी में श्रद्धा समरसता के इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठापक है। वह अपने मधुमय उद्बोधन द्वारा मनु को 'समरसता' की ओर संप्रेरित करती है—

"नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि-समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान।"[1]

इच्छा, क्रिया और ज्ञान—मनुष्य की ये तीन शक्तियाँ जब विश्रृंखलित रहती है तब जीवन में 'समरसता' के स्थान पर विषमता का संचार होता है और इन तीनों के समंजित हो जाने पर जीव स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि अवस्थाओं से मुक्त होकर 'समरसता' की स्थिति में आनन्द की प्राप्ति करता है, मनु को श्रद्धा के सहयोग से कैलाश शिखर पर पहुँचकर जीवन के इस रहस्य की प्राप्ति होती है—

"स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो—
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।"[2]

सारस्वत प्रदेश के निवासी भी कुमार एवं इड़ा के नेतृत्व में मानसरोवर

---

१. कामायनी—श्रद्धा, पृ० ६४
२. वही—रहस्य, पृ० २८५

पहुंचकर मनु एवं श्रद्धा की अनुकम्पा से इस स्थिति को प्राप्त करते हैं और सृष्टि के कण-कण मे व्याप्त अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति में लीन हो जाते है—

"प्रतिफलित हुईं सब आँखें
उस प्रेम-ज्योति विमला से;
सब पहचाने-से लगते
अपनी ही एक कला-से।
समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था।"[1]

(ख) कामायनी मे 'समरसता' का प्रयोग शैव-दर्शन के उपरोक्त पारिभाषिक अर्थ में ही अधिक हुआ है। किन्तु प्रसादजी व्यष्टि के साथ-साथ समिष्टगत जीवन में भी सामंजस्य के पोषक है। इसीलिए उन्होंने व्यष्टिगत जीवन में इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय का पोषण करते हुए समाज में नर और नारी की भावनाओं के परस्पर सामंजस्य का भी आग्रह किया है। जिस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में 'शिवत्व' की प्राप्ति के लिए सामरस्य की उपलब्धि आवश्यक है, उसी प्रकार इस सांसारिक जीवन में भी भौतिक कल्याण एवं उत्थान के लिए नर एवं नारी के मध्य, अधिकारी और अधिकृत के मध्य 'समरसता' की स्थिति आवश्यक है। मनु अपने पुरुषत्व-मोह में जीवन के इस व्यावहारिक सिद्धांत को भूलकर श्रद्धा का परित्याग कर देते हैं और फलस्वरूप सदैव अतृप्त एवं अशात बने रहते है।[2] अंततः श्रद्धा का आश्रय ग्रहण करने पर ही उन्हें शांति प्राप्त होती है। मनु की यह सृष्टि आज भी समाज मे 'समरसता' के अभाव के कारण जो नाना प्रकार के क्लेश, कष्ट भोग रही है, उसका चित्रण प्रसादजी ने 'इड़ा सर्ग' के अन्तर्गत 'काम' के अभिशाप के

---

१. कामायनी—आनंद, पृ० ३०६

२. "तुम भूल गए, पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की
समरसता है सम्बंध बनी अधिकार और अधिकारी की।"
—इड़ा, पृ० १७४

माध्यम से किया है—

"यह अभिनव मानव-प्रजा-सृष्टि
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि
अनजान समस्याएँ गढ़ती, रचती हो अपनी ही विनष्टि।
कोलाहल-कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो बढ़े भेद,
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद।"[1]

मनु जीवन के इस रहस्य को भूलकर स्वयं को सर्वनियंता, स्वतन्त्र शासक मान लेते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उन्हे सारस्वत प्रदेश की अपनी ही प्रजा के विद्रोह का सामना करना पड़ता है। किन्तु जब वे श्रद्धा के साथ कैलाश शिखर पहुँचकर व्यष्टि के स्तर पर 'समरसता' को प्राप्त करते है, तब वे अपनी प्रजा को भी समष्टि के स्तर पर 'समरसता' का सन्देश देते है—

"हम अन्य न और कुटुम्बी,
हम केवल एक हमीं हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।
शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है;
जीवन-वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।"[2]

'समरसता' आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नही, जीवन के भौतिक क्षेत्र में भी अनिवार्य है, इसीलिए तो श्रद्धा अपने पुत्र कुमार को इड़ा के पास छोड़कर जाने से पूर्व उसे जीवन में 'समरसता' के प्रसार का आदेश देती है—

"हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा-भार;
यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय,
तू मननशील, कर कर्म अभय;
इसका तू सब संताप-निचय
हर ले, हो मानव-भाग्य-उदय;

१. कामायनी—इड़ा, पृ० १७६

सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत ! सुन मां की पुकार।"

इस प्रकार समाज के स्तर पर 'समरसता' के सिद्धांत की प्रतिष्ठापना क संदेश देकर प्रसादजी की नवनवोन्मेपशालिनी प्रतिभा ने जीवन की एक अभि नव व्याख्या प्रस्तुत की है। शैवदर्शन में साध्य और साधन के रूप में 'आनन्द एवं 'समरसता' का विस्तृत सैद्धांतिक विश्लेषण मिलता है, किन्तु प्रसादजी ने 'श्रद्धा' के सहयोग से मनु अर्थात् मन के द्वारा 'समरता' की प्राप्ति का जिस रूप में चित्रण किया है, वह उनकी मौलिक कल्पना है।

उन्मन

कामायनी के अन्तिम सर्ग में मनु की सिद्धावस्था के चित्रण के अन्तर्गत विशेषण के रूप में 'उन्मन" शब्द का प्रयोग हुआ है - "मनु तन्मय बैठे उन्मन"[1] शब्दकोशो में 'उन्मन के अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं—उद्विग्न, उदासीन, खिन्न 'अमरकोश' में दुर्मन, विमन, अन्तर्मन, उत्क (उत्कंठित) आदि शब्द उन्मन के पर्यायवाची माने गए हैं—'दुर्मना, विमना अन्तर्मना: स्यादुत्का उन्मना.' 'उन्मन' के यदि इन अर्थों को ग्रहण कर लिया जाए तब 'कामायनी' की उपरोक्त पंक्ति का अर्थ विवक्षित होने की अपेक्षा और अधिक उलझ जाता है। मनु उस विराट सत्ता के स्वरूप का बोध होने पर खिन्न, उदासीन अथवा उद्विग्न मन से तन्मय थे। इस प्रकार के अर्थ से तो 'तन्मय' और 'उन्मन' में ही विरोधाभास प्रतीत होने लगता है। क्योंकि खिन्न अथवा उद्विग्न व्यक्ति तन्मय कैसे हो सकता है और फिर विराट सत्ता के स्वरूप का परिज्ञान तो आत्म- विश्राति का प्रदायक होता है, खिन्नता का नही। खिन्न अथवा उद्विग्न व्यक्ति 'समरसता' की स्थिति को प्राप्त कर ही नही सकता। साधक 'समरसता' को प्राप्त कर ध्यान में लीन हो ही तभी सकता है जब उसकी विशृंखलित अन्त- र्वृत्तियाँ समंजित हो जाये। और अन्तर्वृत्तियों के समंजित होने पर उद्विग्नता अथवा खिन्नता स्वत: समाप्त हो जाती है। अतएव 'उन्मन' का साधारण अभिधार्थ यहाँ कदापि भी ग्राह्य नही है। वस्तुत: 'उन्मन' यहाँ विशिष्ट दार्श- निक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कबीर ने भी योग-साधना के अन्तर्गत इस शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है—

१. कामायनी—आनन्द, पृ० २९७

"मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चंद विहूँणां चांदिणां, तहाँ अलख निरंजन राइ।"
"मन लागा उनमन सौं, उन मन मनहिं विलाग।
लूंण बिलगा पाणियां, पांणीं लूंण बिलग॥"[1]

उपनिषदों तथा शैवागमों मे इस 'उन्मना' अवस्था को मनोऽतीत अवस्था माना गया है। इस अवस्था में साधक और आराध्य के मध्य सभी प्रकार के व्यवधान समाप्त हो जाते हैं और साधक को अपने आराध्य के साथ ऐक्य की अनुभूति होने लगती है। शैवदर्शन में साधना के जो बारह पद माने गए हैं उनमे से 'समना' ग्यारहवां पद है और 'उन्मना' अंतिम सर्वोच्च पद है। इसे 'परमपद' भी कहा गया है। इस पद की प्राप्ति होने पर जीव को 'समरसता' की स्थिति मे परम आनन्द की प्राप्ति होती है, वह इस संसार के पाशजालों से मुक्त होकर शिव रूप हो जाता है—"व्यापिनीं समनां त्यक्त्वा व्रजेन्दुन्मनया शिवम्।" 'समना' अवस्था तक जीव नाना कंचुकों से आवेष्टित रहता है इसीलिए उसकी शक्ति भी सीमित रहती है। किन्तु 'उन्मना' अवस्था में जब जीव कंचुकों के पाश से मुक्त हो जाता है, तब शिवत्व की स्थिति में वह पुनः अपने पूर्णत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व को प्राप्त कर लेता है। 'नेत्रतंत्र' में 'उन्मना' को ज्ञानात्मिका पराशक्ति भी कहा गया है। कहीं-कहीं पर इसे शिव की इच्छाशक्ति भी माना गया है। कामायनी में 'उन्मन' का प्रयोग इसी परमपद के अर्थ मे है। इस पद को प्राप्त करने से पूर्व मनु का मन 'कला', 'विद्या', 'राग' आदि कंचुकों से आवृत रहता है, जिससे उन्हे अपनी शक्ति का मिथ्याभिमान हो जाता है और फलस्वरूप उन्हें अपनी प्रजा के विद्रोह का सामना करना पड़ता है। किन्तु इस 'उन्मना' अवस्था मे जबकि उनका चित्त विविध पाशों से मुक्त हो जाता है, उन्हें पूर्णत्व, सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्व की अनुभूति होती है। अब उन्हें अपने वही प्रजाजन, जिन्होने उनके विरुद्ध विद्रोह किया था, अपने कुटुम्बी प्रतीत होते है। उनके चित्त से द्वयता की भावना समाप्त हो जाती है और सम्पूर्ण विश्व उन्हें एक ही चेतना से तरंगित दिखाई देता है—

"मनु ने कुछ-कुछ मुसक्याकर
कैलास ओर दिखलाया,

---

१. कबीर-ग्रंथावली —सम्पादक —श्यामसुन्दरदास, परचा कौ अंग, पृ० १३.

बोले "देखो कि यहाँ पर,
कोई भी नहीं पराया !
हम अन्य न और कुटुम्बी,
हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है ।"[1]

दर्शन और मनोविज्ञान के विज्ञाता प्रसादजी ने इस शब्द का प्रयोग केवल अंतिम सर्ग में ही किया है । केवल अंतिम सर्ग में इसलिए, क्योंकि यह साधना का चरम सोपान है, अन्तिम परमपद है, जिसे प्राप्त कर साधक की साधना सफल हो जाती है, साधक और ब्रह्म मे कोई भेद नही रह जाता । इस अवस्था में जीव को परम आनन्द की अनुभूति होती है । इसीलिए इस अन्तिम सर्ग का 'आनन्द' नाम भी साभिप्राय एवं सार्थक है ।

१. कामायनी—आनन्द, पृ० २९९